# कल्पलता

लेखक

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

बनारस
ज्ञानमण्डल लिमिटेड

मूल्य २॥)

प्रथम संस्करण संवत् २००८
द्वितीय संस्करण संवत् २०१२

प्रकाशक ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस
मुद्रक ओम् प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, बनारस ४८१३-१२

# विषय-सूची

# 'नाखून क्यों बढ़ते हैं ?'

बच्चे कभी-कभी चक्करमे डाल देनेवाले प्रश्न कर बैठते है। अल्पज्ञ पिता बड़ा दयनीय जीव होता है। मेरी छोटी लड़कीने जब उस दिन पूछ दिया कि आदमीके नाखून क्यो बढ़ते हैं, तो मैं कुछ सोच ही नहीं सका। हर तीसरे दिन नाखून बढ़ जाते हैं। बच्चे कुछ दिनतक अगर उन्हे बढ़ने दे, तो माँ-बाप अकसर उन्हे डाँटा करते हैं पर कोई नहीं जानता कि ये अभागे नाखून क्यो इस प्रकार बढा करते हैं। काट दीजिये, वे चुपचाप दण्ड स्वीकार कर लेगे; पर निर्लज्ज अपराधीकी भाँति फिर छूटते ही सेधपर हाजिर। आखिर ये इतने बेहया क्यों हैं ?

कुछ लाख ही वर्षोंकी बात है, जब मनुष्य जङ्गली था, वनमानुप-जैसा। उसे नाखूनकी जरूरत थी। उसकी जीवन-रक्षाके लिए नाखून बहुत जरूरी थे। असलमे वही उसके अस्त्र थे। दाँत भी थे, पर नाखूनके बाद ही उनका स्थान था। उन दिनो उसे जूझना पडता था, प्रति-द्वन्द्वियोको पछाड़ना पड़ता था, नाखून उसके लिए आवश्यक अग था। फिर धीरे-धीरे वह अपने अगसे बाहरकी वस्तुओका सहारा लेने लगा। पत्थर-के ढेले और पेड़की डाले काममें लाने लगा (रामचन्द्रजीकी वानरी सेनाके पास ऐसे ही अस्त्र थे )। उसने हड्डियोंके भी हथियार बनाये। इन हड्डीके हथियारोमे सबसे मजबूत और सबसे ऐतिहासिक था देवताओके राजाका वज्र, जो दधीचि मुनिकी हड्डियोसे बना था। मनुष्य और आगे बढा। उसने धातुके हथियार पाये। जिनके पास लोहेके शस्त्र और अस्त्र थे, वे विजयी हुए। देवताओके राजातक को मनुष्योके राजासे इसलिए सहायता लेनी पड़ती थी कि मनुष्योंके राजाके पास लोहेके अस्त्र थे। असुरोके पास अनेक विद्याएँ थीं, पर लोहेके अस्त्र नहीं थे, शायद घोडे भी नहीं थे। आर्योके पास ये दोनों चीजे थीं। आर्य विजयी हुए। फिर इतिहास अपनी

गतिसे बढ़ता गया। नाग हारे, सुपर्ण हारे, यक्ष हारे, गन्धर्व हारे, असुर हारे, राक्षस हारे। लोहेके अस्त्रोंने बाजी मार ली। इतिहास आगे बढ़ा। पलीतेवाली बन्दूकोंने, कारतूसोंने, तोपोंने, बमोंने, बम-वर्षक वायुयानोंने इतिहासको किस कीचड़-भरे घाटतक घसीटा है, यह सबको मालूम है। नख-धर मनुष्य अब एटम-बमपर भरोसा करके आगेकी ओर चल पड़ा है! पर उसके नाखून अब भी बढ़ रहे हैं। अब भी प्रकृति मनुष्यको उसके भीतरवाले अस्त्रसे वञ्चित नहीं कर रही है, अब भी वह याद दिला देती है कि तुम्हारे नाखूनको भुलाया नहीं जा सकता। तुम वही लाख वर्ष पहलेके नख-दन्तावलम्बी जीव हो पशुके साथ एक ही सतहपर विचरनेवाले और चरनेवाले।

ततः किम्। मैं हैरान होकर सोचता हूँ कि मनुष्य आज अपने बच्चोंको नाखून न काटनेके लिए डाँटता है। किसी दिन कुछ थोड़े लाख वर्ष पूर्व वह अपने बच्चोंको नाखून नष्ट करनेपर डाँटता रहा होगा। लेकिन प्रकृति है कि वह अब भी नाखूनको जिलाये जा रही है और मनुष्य है कि वह अब भी उसे काटे जा रहा है। वे कम्बख्त रोज बढ़ते हैं, क्योंकि वे अन्धे हैं, नहीं जानते कि मनुष्यको इससे कोटि-कोटि गुना शक्तिशाली अस्त्र मिल चुका है! मुझे ऐसा लगता है कि मनुष्य अब नाखूनको नहीं चाहता। उसके भीतर बर्बर-युगका कोई अवशेष रह जाय, यह उसे असह्य है। लेकिन यह भी कैसे कहूँ, नाखून काटनेसे क्या होता है? मनुष्यकी बर्बरता घटी कहाँ है, वह बढ़ती ही जा रही है! मनुष्यके इतिहासमें हिरोशिमाका हत्याकाण्ड बार-बार थोड़े ही हुआ है। यह तो उसका नवीनतम रूप है! मैं मनुष्यके नाखूनकी ओर देखता हूँ, तो कभी-कभी निराश हो जाता हूँ। ये उसकी भयंकर पाशवी वृत्तिके जीवन्त प्रतीक हैं। मनुष्यकी पशुताको जितनी बार भी काट दो, वह मरना नहीं जानती।

कुछ हजार साल पहले मनुष्यने नाखूनको सुकुमार विनोदोंके लिए उपयोगमें लाना शुरू किया था। वात्स्यायनके कामसूत्रसे पता चलता है

कि आजसे दो हजार वर्ष पहलेका भारतवासी नाखूनोंको जमके सँवारता था। उनके काटनेकी कला काफी मनोरञ्जक बतायी गयी है। 'त्रिकोण, वर्तुलाकार, चन्द्राकार, दन्तुल आदि विविध आकृतियोंके नाखून उन दिनों विलासी नागरिकोंके न जाने किस काम आया करते थे। उनको सिक्थक ( मोम ) और अलक्तक (आलता) से यत्नपूर्वक रगड़कर लाल और चिकना बनाया जाता था। गौडदेशके लोग उन दिनों बड़े-बड़े नखोंको पसन्द करते थे और दाक्षिणात्य लोग छोटे नखोंको। अपनी-अपनी रुचि है, देशकी भी और कालकी भी! लेकिन समस्त अधोगामिनी वृत्तियोंको और नीचे खींचनेवाली वस्तुओंको भारतवर्षने मनुष्योचित बनाया है, यह बात चाहूँ भी तो भूल नहीं सकती।

मानव-शरीरको अध्ययन करनेवाले प्राणि-विज्ञानियोंका निश्चित मत है कि मानव-चित्तकी भाँति मानव-शरीरमें भी बहुत-सी अभ्यास-जन्य सहज वृत्तियाँ रह गयी हैं। दीर्घकालतक उनकी आवश्यकता रही है। अतएव शरीरने अपने भीतर एक ऐसा गुण पैदा कर लिया है कि वे वृत्तियाँ अनायास ही, और शरीरके अनजानमें भी, अपने-आप काम करती हैं। नाखूनका बढ़ना उनमेंसे एक है, केशका बढ़ना दूसरा है, दाँतका दुबारा उठना तीसरा है, पलकोंका गिरना चौथा है। और असलमें सहजात वृत्तियाँ अनजानकी स्मृतियोंको ही कहते हैं। हमारी भाषामें भी इसके उदाहरण मिलते हैं। अगर आदमी अपने शरीरकी, मनकी और वाक्‌की अनायास घटनेवाली वृत्तियोंके विषयमें विचार करे, तो उसे अपनी वास्तविक प्रवृत्ति पहचाननेमें बहुत सहायता मिले। पर कौन सोचता है? सोचता तो क्या उसे इतना भी पता नहीं चलता कि उसके भीतर नख बढ़ा लेनेकी जो सहजात वृत्ति है, वह उसके पशुत्वका प्रमाण है। काटनेकी जो प्रवृत्ति है, वह उसकी मनुष्यताकी निशानी है और यद्यपि पशुत्वके चिह्न उसके भीतर रह गये हैं, पर वह पशुत्वको छोड़ चुका है। पशु बनकर वह आगे नहीं बढ़ सकता। उसे कोई और रास्ता खोजना चाहिये। अस्त्र बढ़ानेकी प्रवृत्ति मनुष्यताकी विरोधिनी है।

मेरा मन पूछता है किस ओर ? मनुष्य किस ओर बढ़ रहा है ? पशुताकी ओर या मनुष्यताकी ओर ? अस्त्र बढानेकी ओर या अस्त्र काटनेकी ओर । मेरी निर्बोध बालिकाने मानो मनुष्य-जातिसे ही प्रश्न किया है जानते हो, नाखून क्यों बढते हैं ? यह हमारी पशुताके अवशेष है । मै भी पूछता हूँ जानते हो, ये अस्त्र-शस्त्र क्यो बढ़ रहे हैं ? ये हमारी पशुताकी निशानी हैं । भारतीय भाषाओंमें प्रायः ही अगरेजीके 'इण्डिपेण्डेन्स' शब्दका समानार्थक शब्द नहीं व्यवहृत होता । १५ अगस्तको जब अगरेजी भाषाके पत्र 'इण्डिपेण्डेन्स' की घोषणा कर रहे थे, देशी भाषाके पत्र 'स्वाधीनता-दिवस'की चर्चा कर रहे थे । 'इण्डिपेण्डेन्स'का अर्थ है अनधीनता या किसीकी अधीनताका अभाव, पर 'स्वाधीनता' शब्दका अर्थ है अपने ही अधीन रहना । अंगरेजीमे कहना हो, तो 'सेल्फडिपेण्डेन्स' कह सकते है । मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि इतने दिनोंतक अँगरेजीकी अनुवर्तिता करनेके बाद भी भारतवर्ष 'इण्डिपेण्डेन्स'को अनधीनता क्यों नहीं कह सका ? उसने अपनी आजादी-के जितने भी नामकरण किये स्वतन्त्रता, स्वराज्य, स्वाधीनता उन सबमे 'स्व' का बन्धन अवश्य रखा । यह क्या संयोगकी बात है या हमारी समूची परम्परा ही अनजानमे, हमारी भाषाके द्वारा प्रकट होती रही है ? मुझे प्राणि-विज्ञानकी बात फिर याद आती है सहजात वृत्ति अनजानी स्मृतियोका ही नाम है । स्वराज होनेके बाद स्वभावतः ही हमारे नेता और विचारशील नागरिक सोचने लगे है कि इस देशको सच्चे अर्थमे सुखी कैसे बनाया जाय । हमारे देशके लोग पहली बार यह सोचने लगे हो, ऐसी बात नही है । हमारा इतिहास बहुत पुराना है, हमारे शास्त्रोंमे इस समस्याको नाना भावों और नाना पहलुओंसे विचारा गया है । हम कोई नौसिखुए नहीं है, जो रातों-रात अनजान जगलमे पहुँचाकर अरक्षित छोड़ दिये गये हो । हमारी परम्परा महिमामयी, उत्तराधिकार विपुल और सस्कार उज्ज्वल है । हमारे अनजानमे भी ये बाते हमे एक खास दिशामे सोचनेकी प्रेरणा देती है । यह जरूर है कि परिस्थितियाँ बदल गयी

हैं। उपकरण नये हो गये है और उलझनोकी मात्रा भी बहुत बढ़ गयी है, पर मूल समस्याएँ बहुत अधिक नहीं बदली है। भारतीय चित्त जो आज भी 'अनधीनता' के रूपमें न सोचकर 'स्वाधीनता' के रूपमे सोचता है, वह हमारे दीर्घकालीन संस्कारोका फल है। वह 'स्व'के बन्धनको आसानी-से नहीं छोड़ सकता। अपने-आपपर अपने-आपके द्वारा लगाया हुआ बन्धन हमारी संस्कृतिकी बड़ी भारी विशेषता है। मै ऐसा तो नहीं मानता कि जो-कुछ हमारा पुराना है, जो-कुछ हमारा विशेष है, उससे हम चिपटे ही रहें। पुरानेका 'मोह' सब समय वाञ्छनीय ही नहीं होता। मरे बच्चे-को गोदमे दबाये रहनेवाली 'बँदरिया' मनुष्यका आदर्श नहीं बन सकती। परन्तु मैं ऐसा भी नहीं सोच सकता कि हम नयी अनुसन्धित्साके नशेमे चूर होकर अपना सरबस खो दे। कालिदासने कहा था कि सब पुराने अच्छे ही नहीं होते, सब नये खराब ही नही होते। भले लोग दोनोकी जाँच कर लेते है; जो हितकर होता है उसे ग्रहण करते है, और मूढ लोग दूसरोंके इशारेपर भटकते रहते है। सो हमे परीक्षा करके हितकर बात सोच लेनी होगी और अगर हमारे पूर्वसञ्चित भाण्डारमे वह हितकर वस्तु निकल आवे, तो इससे बढ़कर और क्या हो सकता है ?

जातियाँ इस देशमें अनेक आयी है। लड़ती-झगड़ती भी रही हैं, फिर प्रेमपूर्वक बस भी गयी है। सभ्यताकी नाना सीढियोपर खडी और नाना ओर मुख करके चलनेवाली इन जातियोके लिए एक सामान्य धर्म खोज निकालना कोई सहज बात नही थी। भारतवर्षके ऋषियोने अनेक प्रकारसे, अनेक ओरसे इस समस्याको सुलझानेकी कोशिश की थी। पर एक बात उन्होंने लक्ष्य की थी। समस्त वर्णों और समस्त जातियोंका एक सामान्य आदर्श भी है। वह है अपने ही बन्धनोसे अपनेको बाँधना। मनुष्य पशुसे किस बातमें भिन्न है ? आहार-निद्रा आदि पशु-सुलभ स्वभाव उसके ठीक वैसे ही हैं, जैसे अन्य प्राणियोंके। लेकिन वह फिर भी पशुसे भिन्न है। उसमें सयम है, दूसरेके सुख-दुःखके प्रति समवेदना है, श्रद्धा है, तप है, त्याग है। यह मनुष्यके स्वयके उद्भावित बन्धन हैं। इसीलिये मनुष्य

झगड़े-टंटेको अपना आदर्श नहीं मानता, गुस्सेमें आकर चढ दौड़नेवाले अविवेकीको बुरा समझता है और वचन, मन और शरीरसे किये गये असत्याचरणको गलत आचरण मानता है। यह किसी खास जाति या वर्ण या समुदायका धर्म नहीं है। यह मनुष्य-मात्रका धर्म है। महाभारतमे इसीलिये निर्वैर भाव, सत्य और अक्रोधको सब वर्णोंका सामान्य धर्म कहा है :—

**एतद्धि त्रितयं श्रेष्ठं सर्वभूतेषु भारत।**
**निर्वैरता महाराज सत्यमक्रोध एव च॥**

अन्यत्र इसमे निरन्तर दानशीलताको भी गिनाया गया है (अनुशासन १२०.१०)। गौतमने ठीक ही कहा था कि मनुष्यकी मनुष्यता यही है कि वह सबके दुख-सुखको सहानुभूतिके साथ देखता है। यह आत्म-निर्मित बन्धन ही मनुष्यको मनुष्य बनाता है। अहिंसा, सत्य और अक्रोधमूलक धर्मका मूल उत्स यही है। मुझे आश्चर्य होता है कि अनजानमे भी हमारी भाषामे यह भाव कैसे रह गया है। लेकिन मुझे नाखूनके बढ़नेपर आश्चर्य हुआ था। अज्ञान सर्वत्र आदमीको पछाड़ता है। और आदमी है कि सदा उससे लोहा लेनेको कमर कसे है।

मनुष्यको सुख कैसे मिलेगा? बड़े-बड़े नेता कहते हैं, वस्तुओकी कमी है, और मशीन बैठाओ, और उत्पादन बढाओ, और धनकी वृद्धि करो, और बाह्य उपकरणोंकी ताकत बढ़ाओ। एक बूढा था। उसने कहा था बाहर नहीं, भीतरकी ओर देखो। हिंसाको मनसे दूर करो, मिथ्याको हटाओ, क्रोध और द्वेषको दूर करो, लोकके लिये कष्ट सहो। आरामकी बात मत सोचो, प्रेमकी बात सोचो; आत्म-पोषणकी बात सोचो, काम करनेकी बात सोचो। उसने कहा प्रेम ही बड़ी चीज है, क्योकि वह हमारे भीतर है। उच्छृङ्खलता पशुकी प्रवृत्ति है, 'स्व'का बन्धन मनुष्यका स्वभाव है। बूढेकी बात अच्छी लगी या नहीं, पता नहीं। उसे गोली मार दी गयी। आदमीके नाखून बढनेकी प्रवृत्ति ही हावी हुई। मैं हैरान होकर सोचता हूँ बूढेने कितनी गहराईमे पैठकर मनुष्यकी वास्तविक चरितार्थताका पता लगाया था!

ऐसा कोई दिन आ सकता है, जब कि मनुष्यके नाखूनोंका बढ़ना बन्द हो जायगा। प्राणिशास्त्रियोंका ऐसा अनुमान है कि मनुष्यका अनावश्यक अंग उसी प्रकार झड जायगा, जिस प्रकार उसकी पूँछ झड़ गयी है। उस दिन मनुष्यकी पशुता भी लुप्त हो जायगी। शायद उस दिन वह मरणास्त्रोंका प्रयोग भी बन्द कर देगा। तबतक इस बातसे छोटे बच्चोंको परिचित करा देना वाञ्छनीय जान पडता है कि नाखूनका बढना मनुष्यके भीतरकी पशुताकी निशानी है और उसे नहीं बढ़ने देना मनुष्यकी अपनी इच्छा है, अपना आदर्श है। बृहत्तर जीवनमें अस्त्र-शस्त्रोंका बढ़ने देना मनुष्यकी पशुताकी निशानी है और उनकी बाढको रोकना मनुष्यत्वका तकाजा है। मनुष्यमे जो घृणा है, जो अनायास बिना सिखाये—आ जाती है, वह पशुत्वका द्योतक है और अपनेको संयत रखना, दूसरेके मनोभावोंका आदर करना मनुष्यका स्वधर्म है। बच्चे यह जानें तो अच्छा हो कि अभ्यास और तपसे प्राप्त वस्तुएँ मनुष्यकी महिमाको सूचित करती हैं।

सफलता और चरितार्थतामें अन्तर है। मनुष्य मरणास्त्रोंके संचयनसे, बाह्य उपकरणोंके बाहुल्यसे उस वस्तुको पा भी सकता है, जिसे उसने बडे आडम्बरके साथ सफलता नाम दे रखा है। परन्तु मनुष्यकी चरितार्थता प्रेममें है, मैत्रीमे है, त्यागमे है, अपनेको सबके मंगलके लिए निःशेष भावसे दे देनेमे है। नाखूनोंका बढ़ना मनुष्यकी उस अन्ध सहजात वृत्तिका परिणाम है, जो उसके जीवनमे सफलता ले आना चाहती है, उसको काट देना उस 'स्व'-निर्धारित आत्म-बन्धनका फल है, जो उसे चरितार्थताकी ओर ले जाती है।

कम्बख्त नाखून बढते है तो बढ़ें, मनुष्य उन्हें बढने नहीं देगा।

# आम फिर बौरा गये !

वसन्तपञ्चमीमे अभी देर है पर आम अभीसे बौरा गये। हर साल ही मेरी आँखे इन्हे खोजती हैं। बचपनमे सुना था कि वसन्तपञ्चमीके पहले अगर आम्रमञ्जरी दिख जाय तो उसे हथेलीमे रगड लेना चाहिये। क्योंकि ऐसी हथेली साल भरतक बिच्छूके जहरको आसानीसे उतार देती है। बचपनमे कई बार आमकी मञ्जरी हथेलीपर रगडी है। अब नहीं रगडता। पर वसन्तपञ्चमीके पहले जब कभी आम्रमञ्जरी दिख जाती है तो बिच्छूकी याद अवश्य आ जाती है। सोचता हूँ, आम और बिच्छूमे क्या सम्बन्ध है ? बिच्छू ऐसा प्राणी है जो आदिम सृष्टिके समय जैसा था, आज भी प्रायः वैसा ही है। जल-प्रलयके पहलेवाली चट्टानोंकी दरारोंमे इसका जैसा शरीर पाया गया है, आज भी वैसा ही है। कम जन्तु इतने अपरिवर्तनशील रहे होंगे। उधर आममे जितना परिवर्तन हुआ है उतना बहुत कम वस्तुओंमे हुआ होगा। पण्डित लोग कहते है कि 'आम्र' शब्द 'अम्र' वा 'अम्ल' शब्दका रूपान्तर है। 'अम्र' अर्थात् खट्टा। आम शुरू शुरूमे अपनी खटाईके लिए ही प्रसिद्ध था। वैदिक आर्य लोगोमे इस फलकी कोई विशेष कदर नही थी। वहाँ तो 'स्वादु उदुम्बरम्' या जायकेदार गूलर ही बड़ा फल था। लेकिन 'अमृत' शब्द कुछ इसी 'अम्र' का रूपान्तर रहा होगा। पहले शायद सोमरसके खटाये हुए रूपको ही 'अम्रित' ( खट्टा बना हुआ ) कहते होंगे। बादमे 'आम्र' ससारका सबसे मीठा फल बन गया और 'अम्रित' अमृत बन गया। अपना-अपना भाग्य है। शब्दोंके भी भाग्य होते है। परन्तु यह सब अनुमान ही अनुमान है। सच भी हो सकता है, नही भी हो सकता है। पण्डितोंसे कौन लडता फिरे ! लेकिन बिच्छूके साथ आमका सम्बन्ध चक्करमे डाल देनेवाला है अवश्य। मै जब आमकी मनोहर मञ्जरियोंको देखता हूँ तब बिच्छूकी याद

आ जाती है। बिच्छू जो संसारका सबसे पुराना, सबसे खूसट, सबसे क्रोधी और सबसे दकियानूस प्राणी है! प्रायः मोहक वस्तुओंको देखकर मनहूस लोगोंकी याद आ जाती है। सबको आती है क्या ?

जरा तुक मिलाइये। आम्रमञ्जरी मदन देवताका अमोघ बाण है और बिच्छू मदनविध्वंसी महादेवका अचूक बाण है। योगीने भोगीको भस्म कर दिया पर भोगीका अस्त्र योगीके अस्त्रको व्यर्थ बना रहा है। कुछ ठिकाना है इस बेतुकेपनका। परन्तु सारी दुनिया यानी बच्चोंकी दुनिया। इस बातको सच मानती आ रही है।

परसाल भी मैंने वसन्तपञ्चमीके पहले आम्र-मुकुल देखे थे। पर बड़ी जल्दी वे मुरझा गये। उसी आमको दुबारा फूलना पड़ा। मुझे बड़ा अद्भुत लगा। आगे-आगे क्यों फूलते हो बाबा, जरा रुकके ही फूलते। कौन ऐसी यात्रा बिगड़ी जाती थी। मेरे एक मित्रने कहा था कि मुझे ऐसा लगता है कि नवल वधूके समान यह बिचारी आम्र-मञ्जरी जरा-सा झाँकने बाहर निकली और सामने हमारे जैसे मनहूसोंको देखकर लजा गयी। वस्तुतः यह मेरे मित्रकी कल्पना थी। अगर सच होती तो मैं कहीं मुँह दिखलाने लायक न रहता। पर मुझे इतिहासकी बात याद आ गयी। उससे मैं आश्वस्त हुआ, मनहूस कहानेकी बदनामीसे बच गया। वह इतिहास मनोरञ्जक है। सुनाता हूँ।

बहुत पहले कालिदासने इसी प्रकार एक बार आम्र-मञ्जरीको सकुचाते देखा था। शकुन्तला नाटकमें वे उसका कारण बता गये हैं। दुष्यन्त पराक्रमी राजा थे। उनके हृदयमें एक बार प्रिया-वियोगकी विषम ज्वाला जल रही थी, तभी वसन्तका पदार्पण हुआ। राजाने वसन्तोत्सव न करनेकी आज्ञा दी। आम बिचारा बुरी तरह छका। इसका स्वभाव थोड़ा चञ्चल है। वसन्त आया नहीं कि व्याकुल होकर फूट पड़ता है। उस बार भी हजरत पुलकित हो गये। तबतक राजाकी आज्ञा हुई। बेवकूफ बनना पड़ा। इन कलियोंके रूपमें मदन देवताने अपना बाण चढ़ाया था। बिचारे अधखिंचे धनुषके बाण समेटनेको बाध्य हुए 'शङ्के संहरति

स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्ट शरम्' । आजकल दुष्यन्त जैसे प्रतापी राजा नहीं हैं । पर पिछली बार भी जब मदन देवताको अपना अर्धकृष्ट शर समेटना ही पड़ा था तो कैसे कहा जाय कि वैसे प्रतापी लोग अब नहीं है ? जरूर कोई-न-कोई पराक्रमी मनुष्य कहीं-न-कहीं विरह-ज्वालामें सन्तप्त हो रहा होगा । कार्य जब है तो कारण भी होगा ही । इतिहास बदल थोड़े जायगा । और इस घटनाके बाद जब कोई कालिदासको मनहूस नहीं कहता तो मुझे ही क्यों कहेगा ?

आशा करता हूँ, इस बार आम्र-मञ्जरीको मुरझाना नहीं पड़ेगा । आहा, कैसा मनोहर कोरक है । बलिहारी है इस 'आताम्रहरित-पाण्डुर' शोभाकी । अभी सुगन्धि नहीं फैली है किन्तु देर भी नहीं है । कालिदास-ने आम्र-कोरकोको बसन्त-कालका 'जीवितसर्वस्व' कहा था । उन दिनों भारतीय लोगोंका हृदय अधिक सवेदनशील था । वे सुन्दरका सम्मान करना जानते थे । गृहदेवियाँ इस लाल-हरे-पीले आम्रकोरकको देखकर आनन्द-विह्वल हो जाती थीं । वे इस 'ऋतुमङ्गल' पुष्पको श्रद्धा और प्रीतिकी दृष्टिसे देखती थीं । आज हमारा संवेदन भोथा हो गया है । पुरानी बातें पढ़नेसे ऐसा मालूम होता है जैसे कोई अधभूला पुराना सपना है । रस मिलता है पर प्रतीति नहीं होती । एक अजब आवेशके साथ पढ़ता हूँ

**आत्तम्महरियपाण्डुर जीवितसव्वं वसन्तमासस्स ।**
**दिट्ठोसि चूदकोरअ उदुमंगल तुमं पसाप्पमि ॥**

आम्रकोरकोंको प्रसन्न करनेकी बात भवोच्छ्वासकी बहकके समान सुनाई देती है । मनुष्यचित्त इतना नहीं बदल गया है कि पहचानमें ही न आये । पहले लोग अगर आम्रकोरक देखकर नाच उठते थे तो इन दिनों कमसे कम उछल जरूर पड़ना चाहिये । पुष्प-भारसे लदे हुए आम्र-वृक्षको देखकर सहज भावसे निकल जानेवाले सैकड़ो मनुष्योंको मैंने अपनी आँखों देखा है । कोई नाच नहीं उठता । परन्तु एक बार मैं भी थोड़ा विह्वल हुआ था और एक कविता लिख डाली थी । छपायी तो अब भी नहीं है,

पर सोचता हूँ छपा देनी चाहिये। बहुत होगा लोग कहेंगे, कवितामें कोई सार नहीं है। कौन बड़ा कवि हूँ जो अकवि कहानेकी बदनामीसे डरूँ। यह कविता आम्र-कोरकोंकी अद्भुत विह्वलकारिणी शक्तिका परिचायक होकर मेरे पास पड़ी हुई है।

कामशास्त्रमें 'सुवसन्तक' नामक उत्सवकी चर्चा आती है। सरस्वती-कण्ठाभरणमे लिखा है कि सुवसन्तक वसन्तावतारके दिनको कहते हैं। वसन्तावतार अर्थात् जिस दिन वसन्त पृथ्वीपर अवतरित होता है। मेरा अनुमान है, वसन्तपञ्चमी ही वह वसन्तावतार की तिथि है। मात्स्यसूक्त और हरिभक्तिविलास आदि ग्रन्थोमे इसी दिनको वसन्तका प्रादुर्भाव-दिवस माना गया है। इसी दिन मदन देवताकी पहली पूजा विहित है। यह भी अच्छा तमाशा है। जन्म हो वसन्तका और उत्सव मदन देवताका। कुछ तुक नही मिलता। मेरा मन पुराने जमानेके उत्सवोंको प्रत्यक्ष देखना चाहता है पर हाय देखना क्या सम्भव है? सरस्वती-कण्ठाभरणमे महाराज भोजदेवने सुवसन्तककी एक हल्की-सी झाँकी दी है। इस दिन उस युगकी ललनाएँ कण्ठमे कुवलयकी माला और कानमें दुर्लभ आम्र-मञ्जरियाँ धारण करके गाँवोको जगमग कर देती थी

**छणपिट्ठधूसरत्थणि, महुमअतम्मच्छि कुवलआहरणे।**
**कण्णकअ चूअमंजरि, पुत्ति तुए मंडिओ गामो॥**

पर यह अपेक्षाकृत परवर्ती समाचार है। इसके पहले क्या होता था? क्या वसन्तके जन्मदिनको मदनका जन्मोत्सव मनाया जाता था? धर्म-शास्त्रकी पोथियोमे लिखा है कि वसन्तपञ्चमीके दिन मदन देवताकी पूजा करनेसे स्वय श्रीकृष्णचन्द्रजी प्रसन्न होते हैं। यह और मजेदार बात निकली। तान्त्रिक आचारसे विष्णु-भजन करनेवाले बताते हैं कि 'काम-गायत्री' ही श्रीकृष्ण-गायत्री है। तो कामदेव और श्रीकृष्ण अभिन्न देवता है? पुराणोमे लिखा है कि काम देवता श्रीकृष्णके घर पुत्र-रूपमें उत्पन्न हुए थे। वह कथा भी कुछ अपने ढगकी अनोखी ही है। कामदेव

प्रद्युम्नके रूपमें पैदा हुए और शम्बर नामक मायावी असुर उन्हें हर ले गया और समुद्रमें फेंक दिया। मछली उन्हें खा गयी। संयोगवश वही मछली शम्बरकी भोजनशालामें गयी और बालक फिर उसके पेटसे बाहर निकला। काम देवताकी पत्नी रतिदेवी वहाँ पहलेसे ही मौजूद थी। और ऐसे मौकोंपर जिस व्यक्तिका पहुँचना नितान्त आवश्यक होता है, वे नारद मुनि भी वहाँ पहुँच गये। रतिको सारी बातें उन्हीं-से मालूम हुई। प्रद्युम्न पाले गये, शम्बर मारा गया, श्रीकृष्णके घरमें पुत्र ही नहीं, पुत्रवधू भी यथासमय पहुँच गयी, इत्यादि इत्यादि। पुराणों-में असुर प्रायः ही शैव बताये गये हैं। कामदेव उनके दुश्मन हों यह तो समझमें आ जाता है, भागवतोंसे उसका सम्बन्ध कैसे स्थापित हुआ? मेरा मन अधमूले इतिहासके आकाशमें चीलकी तरह मँडरा रहा है, कहीं कुछ चमकती चीज नजर आयी नहीं कि झपाटा मारा। पर कुछ दिख नहीं रहा है। सुदूर इतिहासके कुज्झटिकाच्छन्न नभोमण्डलमें कुछ देख लेनेकी आशा पोसना ही मूर्खता है। पर आदत बुरी चीज है। आर्यों-के साथ असुरों, दानवों और दैत्योंके संघर्षसे हमारा साहित्य भरा पड़ा है। रह-रहकर मेरा ध्यान मनुष्यकी इस अद्भुत विजय-यात्राकी ओर खिंच जाता है। कितना भयङ्कर संघर्ष वह रहा होगा। जब घरमें पालनेपर सोये हुए लड़केतक चुरा लिये जाते होंगे और समुद्रमें फेंक दिये जाते होंगे, पर हम किस प्रकार उनको भूल-भालकर दोनों विरोधी पक्षोंके उपास्य देवताओंको समान श्रद्धाके साथ ग्रहण किये हुए हैं? आज इस देशमें हिन्दू और मुसल्मान इसी प्रकारके लज्जाजनक संघर्षमें व्यापृत हैं। बच्चों और स्त्रियोंको मार डालना, चलती गाड़ीसे फेंक देना, मनोहर घरोंमें आग लगा देना मामूली बातें हो गयी हैं। मेरा मन कहता है कि ये सब बातें भुला दी जायँगी। दोनों दलोंकी अच्छी बातें ले ली जायँगी, बुरी बातें छोड़ दी जायँगी। पुराने इतिहासकी ओर दृष्टि ले जाता हूँ तो वर्तमान इतिहास निराशाजनक नहीं मालूम होता। कभी-कभी निकम्मी आदतोंसे भी आराम मिलता है।

तो, यह जो भागवत पुराणका शम्बर असुर है, इसका नाम अनेक तरहसे पुराने साहित्यमे लिखा मिलता है, शम्बर भी मिलता है, सम्बर भी और शावर या साबर भी। कोई विदेशी भाषाका शब्द होगा, पण्डितोंने नानाभावसे सुधारकर लिख लिया होगा। यह इन्द्रजाल या जादू विद्याका आचार्य माना जाता है अर्थात् 'यातुधान' है। यातु और जादू शब्द एक ही शब्दके भिन्न-भिन्न रूप हैं। एक भारतवर्षका है, दूसरा ईरानका। ऐसे अनेक शब्द हैं। ईरानमे थोड़ा बदल गये हैं और हम लोग उन्हे विदेशी समझने लगे है। 'खुदा' शब्द असलमे वैदिक 'स्वधा' शब्दका भाई है। 'नमाज' भी संस्कृत 'नमस्' का सगा सम्बन्धी है। 'यातुधान' को ठीक-ठीक फारसी वेशमें सजा दे तो 'जादूदाँ' हो जायगा। कालिका पुराणमें शावर असुरके नामपर होनेवाले शावरोत्सवका उल्लेख है जिसमे अश्लील गाली देना और सुनना जरूरी हुआ करता था। यह उत्सव सावनमे मनाया जाता था और वेश्याएँ प्रमुख रूपसे उसमे भाग लेती थीं। ससारमें सभी देशोंमे एक दिन सालमे ऐसा जरूर मनाया जाता है जिसमे अश्लील गाली-गलौज आवश्यक माना जाता है। अपने यहाँ फागुन-चैतमे इस प्रकारका उत्सव मनाया जाता है। इसीको मदनोत्सव कहते हैं। मैं सोचता हूँ कि क्या मदनोत्सवके समान एक और उत्सव इस देशमें प्रचलित था जिसके मुख्य उद्योक्ता असुर लोग थे? असुरोके साथ मदन देवताके सघर्षमें क्या इसीलिये दो विभिन्न संस्कृतियोका द्वन्द्व प्रकट होता है? कौन बतायेगा?

आर्योंको इस देशमें सबसे अधिक सघर्ष असुरोसे ही करना पड़ा था। दैत्यो, दानवों और राक्षसोंसे भी उनकी बजी थी, पर असुरोसे निपटनेमे उन्हें बड़ी शक्ति लगानी पड़ी थी। वे थे भी बहुत उन्नत। हर तरहसे वे सभ्य थे। उन्होने बड़े बड़े नगर बसाये थे, महल बनाये थे, जल-स्थलपर अधिकार जमा-लिया था। गन्धर्वों, यक्षों और किन्नरोसे आर्योंको कभी विशेष नही लड़ना पड़ा। ये जातियाँ अधिक शान्तिप्रिय थीं। विलासिताकी मात्रा इनमे कुछ अधिक थी। काम देवता या कन्दर्प

वस्तुतः गन्धर्व ही हैं। केवल उच्चारण बदल गया है। ये लोग आर्योंसे मिल गये थे। असुरोंने इनसे बदला लिया था। पर अन्ततक असुर विजयी नहीं हुए। उनका संघर्ष असफल सिद्ध हुआ।

लेकिन आम्र-मञ्जरीके साथ बिच्छूका सम्बन्ध अब भी मुझे चक्करमें डाले हुए है। पोथियाँ पढ़ता हूँ, उनका सम्मान भी करता हूँ, पर लोक-प्रवादोंको हँसकर उड़ा देनेकी शक्ति अभी सञ्चय नहीं कर सका हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि इन प्रवादोंमें मनुष्य-समाजका जीवन्त इतिहास सुरक्षित है। जब कभी लोक-परम्पराके साथ किसी पोथीका विरोध हो जाता है तो मेरे मनमें कुछ नवीन रहस्य पानेकी आशा उमड़ उठती है। सब समय नयी बात सूझती नहीं; पर हार मैं नहीं मानता। कभी-कभी तो बड़े-बड़े पण्डितोंकी बातमें मुझे असंगति दिख जाती है। कहनेमें हिच-कता हूँ, नये पण्डितोंके क्रोधसे डरता हूँ, पर मनसे यह बात किसी प्रकार नहीं जाती कि पण्डितकी बातकी संगति लोक-परम्परासे ही लग सकती है। कहीं जैसे कुछ छूट रहा हो, कुछ भूल रहा हो। एक उदाहरण दूँ।

क्षेमेन्द्र बहुत बड़े सहृदय और बहुश्रुत आचार्य थे। उन्होंने बहुत-सी पोथियाँ लिखी हैं। एकका नाम है 'औचित्य-विचार-चर्चा'। उसमें उन्होंने संज्ञा शब्दोंके औचित्यके प्रसंगमें कालिदासके विक्रमोर्वशीय नाटक-का वह श्लोक उद्धृत किया है जिसमें राजाने विरहातुर अवस्थामें कहा है कि वैसे ही तो दुर्लभ वस्तुओंके लिए मचल पड़नेवाला पञ्चबाण (कामदेव) मेरे चित्तको छलनी किये डालता है, अब मलय-पवनसे आन्दोलित इन आम्र-वृक्षोंने अंकुर दिखा दिये। अब तो बस भगवान् ही मालिक हैं

> इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारः
> प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति।
> किमुत मलयवातान्दोलितापाण्डुपत्रै-
> रुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु॥

अब सहृदय-शिरोमणि क्षेमेन्द्र कहते हैं कि यह कामदेवको पञ्चबाण

कहना उचित ही हुआ है। कामदेवके पञ्चबाणोंमें एक तो यही आम्र-मञ्जरीका अङ्कुर है। लेकिन मैं बिल्कुल उल्टा सोच रहा हूँ। मैं कहता हूँ, पञ्चबाण कहनेसे ही तो आम्रकोरक भी कह डाले गये, फिर दुबारा उनकी चर्चा करना कहाँ सगत है ? मैं अगर अच्छा पण्डित होता तो क्षेमेन्द्रकी भी गलती निकालता और कालिदासका भी अनौचित्य सिद्ध करता, लेकिन खेदके साथ कहता हूँ कि मैं 'अच्छा' पण्डित नहीं हूँ। मेरा मन पूछता है कि क्या कालिदास आम्र-मुकुलोंको मदन देवताके पॉच बाणोंमें नहीं गिनते थे ? वैसे तो ससारके सभी फूल मदन देवताके तूणीरमें आ ही सकते हैं पर कालिदासके युगमें लोक-प्रचलित कोई विश्वास ऐसा अवश्य रहा होगा कि आम पॉच बाणोंसे अतिरिक्त है। ऐसा न होता तो कालिदास इस श्लोकमें 'पञ्चबाण' शब्दका प्रयोग न करते। सबूत दे सकता हूँ। पर सुनता कौन है ? कालिदासने एक जगह आम्र-कोरकोंको यह आशीर्वाद दिलाया है कि तुम कामके पॉच बाणोंसे अभ्य-धिक बाण बनो। इस 'अभ्यधिक' शब्दका सीधा अर्थ तो यही मालूम होता है कि पॉचसे अधिक छठा बाण बनो। पर पण्डित लोग कहते है कि इसका सही अर्थ है पॉचोंमें सबसे अधिक तीक्ष्ण। होगा बाबा, कौन झमेलेमें पडे। क्या अतीतके अन्धकारमें झॉकनेसे कुछ दिख नहीं सकता ? मदन देवता हमारे साहित्यमें कब आये और उनके बाणोंका भी कोई इतिहास है ? और फिर बिच्छूसे इसका कोई नाता-रिश्ता भी है क्या ?

पुराणोंकी गवाहीपर मान लिया जा सकता है कि असुरोंकी आखिरी हार अनिरुद्ध और ऊषाके विवाहके अवसरपर हुई थी। असुरोंकी ओरसे भगवान् शंकरका समूचा दल लड़ रहा था। शिवजी श्रीकृष्णसे गुँथे थे, प्रद्युम्न अर्थात् काम-देवता स्कन्द ( देवसेनापति ) से। शिवजीके दलमें भूत थे, प्रमथ थे, यातुधान थे, वेताल थे, विनायक थे, डाकिनियॉ थीं, प्रेत थे, पिशाच थे, कूष्माण्ड थे, ब्रह्मराक्षस थे यानी पूरी सेना थी। सॉप-बिच्छू भी रहे ही होंगे। और तो और, मैलेरियाका बुखार भी था। इस लड़ाईमें असुर बुरी तरह हारे। शिवजी भी हारे। देवताओंके दुर्धर्ष

सेनापतिको कामावतार प्रद्युम्नसे हारना पड़ा। मोर समेत विचारे भाग खड़े हुए। भागवतमें यह कथा बड़े विस्तारसे कही गयी है। इसके बाद इतिहासमें कहीं असुरोंने सिर नहीं उठाया। शिवजीकी सेना प्रथम बार पराजित हुई। कैसे और कब प्रद्युम्नने आम्रकोरकोंका बाण सन्धान किया और बिचारा बिच्छू परास्त हुआ, यह कहानी इतिहासमें दबी रह गयी। लेकिन लोग जान गये हैं और बच्चोंकी दुनियाको भी पता लग ही गया है।

मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ। फूल तो दुनियामें अनेक हैं। आम, लेकिन, फूलकी अपेक्षा फल रूपमें अधिक विख्यात है। कवि लोगोंकी बात छोड़िये। वे लोग कभी-कभी बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बोलते ही हैं। अपने भीतर जरा-सी सुड़सुड़ी हुई नहीं कि समझ लेते हैं कि सारी दुनिया इसी प्रकार पागल हो गयी है। हम लोग भी जानते हैं कि आमकी मञ्जरी मादक होती है लेकिन कवि तो कहता है कि जब दिगन्त सहकार-मंजरीके केसरसे मूर्छमान हो और मधुपानके लिए व्याकुल बने हुए भौंरे गली-गली घूम रहे हों तो ऐसे भरे वसन्तमें किसके चित्तमें उत्कण्ठा नहीं लहरा उठती ?

**सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्छितदिगन्ते**
**मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत् कस्य नोत्कण्ठा ?**

अब, अगर किसी सभामें आप यही सवाल पूछ बैठें तो प्रायः सौ फी सदी भले आदमी ही 'मम' 'मम' कहकर चिल्ला उठेंगे। पर कवि तो अपनीहीसी कहे जायगा। लेकिन बढ़िया लँगड़ा आम दिखाकर अगर आप पूछें कि इसे पानेकी उत्कण्ठा किसे नहीं है तो सारी सभा चुप रहेगी। सब मन-ही-मन कहेंगे, ऐसा भी पूछना क्या उचित है ? आम देखकर किसका जी नहीं ललचायेगा ? एक बार कविवर रवीन्द्रनाथ चीन गये थे। उन्हें आम खानेको नहीं मिला। उन्होंने अपने एक साथी-से विनोदमें कहा 'देखिये, मैं जितने दिनतक जिऊँ उसका हिसाब कर लेनेके बाद उसमेंसे एक साल कम कर दीजियेगा। क्योंकि जिस सालमें आम खानेको नहीं मिला उसको मैं व्यर्थ समझता हूँ।' अबतक यह

रिपोर्ट नहीं मिली कि किसी कविने आम्र-मंजरीकी सुगन्धि न पानेके कारण अपने जीवनके किसी वर्षको व्यर्थ समझा हो। तो मेरा कहना यह है कि आमके फूलोंका वर्णन इतना होना ही नहीं चाहिये। अरविन्दका हो, अशोकका हो, नवमल्लिकाका हो, नीलोत्पलका हो। इनमें फल या तो आते ही नहीं या आते भी है तो नहीं आनेके बराबर। ये काम-देवताके अस्त्र बन सकते हैं, क्योंकि ये अप्सरा जातिके पुष्प हैं। इनका सौन्दर्य केवल दिखावेका है। काम-देवताके ये दुलारे हो सकते हैं। पर आमको क्यों घसीटते हो बाबा ? यह अन्नपूर्णाका प्रसाद है। यह धन्व-न्तरिका अमृत-कलश है। यह धरती माताका मधुर दुग्ध है।

मेरा अनुमान है कि आम पहले इतना खट्टा होता था और इसका फल इतना छोटा होता था कि इसके फलको कोई व्यवहारमें ही नहीं लाता था। सम्भवतः यह भी हिमालयके पार्वत्य देशका जंगली वृक्ष था। इसके मनोहर कोरक और दिगन्तको मूर्छित कर देनेवाला आमोद ही लोकचित्तको मोहित करते थे। धीरे-धीरे यह फल मैदानमें आया। मनुष्य-के हाथ रूपी पारससे छूकर यह लोहा भी सोना बन गया है। गङ्गाकी सुवर्णप्रसू मृत्तिकाने इसका कायाकल्प कर दिया है। मैं आश्चर्यसे मनुष्यकी अद्भुत शक्तिकी बात सोचता हूँ। आलू क्या-से-क्या हो गया, बैंगन कटकारीसे वार्ताकु बन गया। आम भी उसी प्रकार बदला है। न जाने मनुष्यके हाथोंसे विधाताकी सृष्टिमें अभी क्या-क्या परिवर्तन होनेवाले हैं। आज तो दुर्भिक्ष और अन्न-संकटका हाहाकार चित्तको मथ रहा है यह शाश्वत होकर नहीं आया है। मनुष्य उसपर विजयी होगा। कितने अव्यवहार्य पदार्थोंको उसने व्यवहार्य बनाया है, कितनी खटाई उसके हाथों 'अमृत' बनी है। कौन जाने यह महान् 'गोधूम' लता ( गेहूँ ) किसी दिन सचमुच गायोंके लगनेवाले मच्छरोंको भगानेके लिए धुआँ पैदा करनेके काम आती हो ? निराश होनेकी कोई बात नहीं है। मनुष्य इस विश्वका दुर्जय प्राणी है।

हाँ, तो उसी बहुत पुराने जमानेमें गन्धर्व या ( जैसा कि इसका

एक दूसरा उच्चारण संस्कृतमें प्रचलित है ) कन्दर्प देवताने अपने तरकस-में इस बाणको सजाया था। कवियोंको उसी आदिम कालका सन्देश वसन्तमें सुनायी देता है। लोग क्या गलत कहा करते हैं कि जहाँ न जाय रवि तहाँ जाय कवि। किस भूले युगकी कथा वे आज भी गाये जा रहे हैं? कालिदास जरूर कुछ झिझके थे। शायद उनके जमानेके सहृदय लोग आमको अरविन्द, अशोक और नवमालिकाकी पंगतमें बैठानेमें हिचकते थे। अच्छा करते थे। वात्स्यायन कामशास्त्रमें जहाँ आम और माधवीलताके विवाहके विशुद्ध विनोदका उत्सव सुझा गये हैं, वहाँ नवा-म्रखादनिका या आमके नये टिकोरोंको खानेके उत्सवको भूले नहीं हैं। आमकी मंजरी विधाताका वरदान है पर आमका फल मनुष्यकी बुद्धिका परिणाम है। मनुष्य प्रकृतिको अनुकूल बना लेनेवाला अद्‌भुत प्राणी है। यह विशाल विश्व आश्चर्यजनक है पर इसको समझनेके लिए प्रयत्न करने-वाला और इसे करतलगत करनेके लिए जूझनेवाला यह मनुष्य और भी आश्चर्यजनक है। आम्रमंजरी उसी अचरजका सन्देश लेकर आयी है। 'उदुमगाल तुम पसाएमि!'

# शिरीषके फूल

जहाँ बैठके यह लेख लिख रहा हूँ उसके आगे, पीछे, दाये, बाये, शिरीषके अनेक पेड़ हैं। जेठकी जलती धूपमे, जब कि धरित्री निर्धूम अग्निकुण्ड बनी हुई थी, शिरीष नीचेसे ऊपरतक फूलोसे लद गया था। कम फूल इस प्रकारकी गर्मीमे फूल सकनेकी हिम्मत करते है। कर्णिकार और आरग्वध ( अमलतास ) की बात मै भूल नहीं रहा हूँ। वे भी आस-पास बहुत हैं। लेकिन शिरीषके साथ आरग्वधकी तुलना नहीं की जा सकती। वह पन्द्रह-बीस दिनके लिए फूलता है, वसन्त ऋतुके पलाशकी भाँति। कबीरदासको इस तरह पन्द्रह दिनके लिए लहक उठना पसन्द नहीं था। यह भी क्या कि दस दिन फूले और फिर खंखड़-के-खखड़ 'दिन दस फूला फूलिके खखड़ भया पलास'। ऐसे दुमदारोंसे तो लॅडूरे भले। फूल है शिरीष। वसन्तके आगमनके साथ लहक उठता है, अपाढतक तो निश्चित रूपसे मस्त बना रहता है। मन रम गया तो भरे भादोमे भी निर्घात फूलता रहता है। जब उमससे प्राण उबलता रहता है और लूसे हृदय सूखता रहता है, एकमात्र शिरीष कालजयी अवधूतकी भाँति जीवनकी अजेयताका मन्त्र प्रचार करता रहता है। यद्यपि कवियोकी भाँति हर फूल-पत्तेको देखकर मुग्ध होने लायक हृदय विधाताने नहीं दिया है, पर नितान्त ठूँठ भी नहीं हूँ। शिरीषके पुष्प मेरे मानसमे थोड़ा हिल्लोल जरूर पैदा करते हैं।

शिरीषके वृक्ष बड़े छायादार होते हैं। पुराने भारतका रईस जिन मगल-जनक वृक्षोको अपनी वृक्ष-वाटिकाकी चहारदीवारीके पास लगाया करता था, उनमे एक शिरीष भी है (बृहत्संहिता ५५।३) अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग और शिरीषके छायादार और घन मसृण हरीतिमासे परिवेष्टित वृक्ष-वाटिका जरूर बडी मनोहर दिखती होगी। वात्स्यायनने

( कामसूत्रमे ) बताया है कि वाटिकाके सघन छायादार वृक्षोकी छायामे ही झूला ( प्रेखा दोला ) लगाया जाना चाहिये। यद्यपि पुराने कवि बकुलके पेड़में ऐसी दोलाओको लगा देखना चाहते थे, पर शिरीष भी क्या बुरा है। डाल इसकी अपेक्षाकृत कमजोर जरूर होती है, पर उसमे झूलनेवालियोका वजन भी तो बहुत ज्यादा नहीं होता। कवियोंकी यही तो बुरी आदत है कि वजनका एकदम खयाल नही करते। मै तुन्दिल नरपतियोकी बात नहीं कह रहा हूँ, वे चाहे तो लोहेका पेड़ बनवा ले।

शिरीषका फूल सस्कृत साहित्यमें बहुत कोमल माना गया है। मेरा अनुमान है कि कालिदासने यह बात शुरू-शुरूमे प्रचार की होगी। उनका कुछ इस पुष्पपर पक्षपात था (मेरा भी है)। कह गये हैं, शिरीष पुष्प केवल भौंरोंके पदोंका कोमल दबाव सहन कर सकता है, पक्षियोका बिलकुल नहीं 'पद सहेत भ्रमरस्य पेलव शिरीष पुष्प न पुनः पतत्रिणाम्!' अब मैं इतने बड़े कविकी बातका विरोध कैसे करूँ ? सिर्फ विरोध करनेकी हिम्मत न होती तो भी कुछ कम बुरा नहीं था, यहाँ तो इच्छा भी नहीं है। खैर, मैं दूसरी बात कह रहा था। शिरीषके फूलोंकी कोमलता देखकर परवर्ती कवियोंने समझा कि उसका सब-कुछ कोमल है! यह भूल है। इसके फल इतने मजबूत होते हैं कि नये फूलोके निकल आनेपर भी स्थान नहीं छोडते। जबतक नये फल पत्ते मिलकर धकियाकर उन्हे बाहर नहीं कर देते तबतक वे डटे रहते हैं। वसन्तके आगमनके समय जब सारी वनस्थली पुष्प-पत्रसे मर्मरित होती रहती है, शिरीषके पुराने फल बुरी तरह खड़-खड़ाते रहते है। मुझे इनको देखकर उन नेताओकी बात याद आती है, जो किसी प्रकार जमानेका रुख नहीं पहचानते और जबतक नयी पौधके लोग उन्हे धक्का मारकर निकाल नहीं देते तबतक जमे रहते हैं।

मैं सोचता हूँ कि पुरानेकी यह अधिकार-लिप्सा क्यो नहीं समय रहते सावधान हो जाती ? जरा और मृत्यु ये दोनो ही जगत्के अतिपरिचित और अतिप्रामाणिक सत्य है। तुलसीदासने अफसोसके साथ इनकी

सचाईपर मुहर लगायी थी 'धराको प्रमान यही तुलसी जो फरा सो झरा जो बरा सो बुताना !' मैं शिरीषके फलोंको देखकर कहता हूँ कि क्यों नहीं फलते ही समझ लेते बाबा, कि झडना निश्चित है ! सुनता कौन है ? महाकाल देवता सपासप कोड़े चला रहे है, जीर्ण और दुर्बल झड रहे हैं, जिनमे प्राणकणा थोडा भी ऊर्ध्वमुखी है, वे टिक जाते है। दुरंत प्राणधारा और सर्वव्यापक कालाग्निका संघर्ष निरन्तर चल रहा है। मूर्ख समझते हैं कि जहाँ बने है वही देरतक बने रहे तो कालदेवताकी आँख बचा जायेंगे। भोले हैं वे। हिलते-डुलते रहो, स्थान बदलते रहो, आगेकी ओर मुँह किये रहो तो कोडेकी मारसे बच भी सकते हो। जमे कि मरे।

एक-एक बार मुझे मालूम होता है कि यह शिरीष एक अद्भुत अवधूत है। दुःख हो या सुख, वह हार नहीं मानता। न ऊधोका लेना, न माधोका देना। जब धरती और आसमान जलते रहते है तब भी यह हजरत न-जाने कहाँसे अपना रस खींचते रहते हैं। मौजमे आठो याम मस्त रहते हैं। एक वनस्पति शास्त्रीने मुझे बताया है कि यह उस श्रेणीका पेड़ है जो वायुमण्डलसे अपना रस खींचता है। जरूर खींचता होगा। नहीं तो भयकर लूके समय इतने कोमल ततुजाल और ऐसे सुकुमार केसरको कैसे उगा सकता था। अवधूतोंके मुँहसे ही ससारकी सबसे सरस रचनाएँ निकली हैं। कबीर बहुत-कुछ इस शिरीषके समान ही थे, मस्त और बेपरवाह, पर सरस और मादक। कालिदास भी जरूर अनासक्त योगी रहे होंगे। शिरीषके फूल फक्कडाना मस्तीसे ही उपज सकते हैं और मेघदूतका काव्य उसी प्रकारके अनासक्त अनाविल उन्मुक्त हृदयमे उमड सकता है। जो कवि अनासक्त नहीं रह सका, जो फक्कड़ नहीं बन सका, जो किये-करायेका लेखा-जोखा मिलानेमे उलझ गया, वह भी क्या कवि है ? कहते हैं कर्णाट-राजकी प्रिया विज्जिका देवीने गर्वपूर्वक कहा था कि एक कवि ब्रह्मा थे, दूसरे वाल्मीकि और तीसरे व्यास। एकने वेदोंको दिया, दूसरेने रामायणको और तीसरेने महाभारतको। इनके अतिरिक्त

और कोई यदि कवि होनेका दावा करे तो मैं कर्णाट-राजकी प्यारी रानी उनके सिरपर अपना बायाँ चरण रखती हूँ—"तेषां मूर्ध्नि ददामि वामचरणं कर्णाट-राजप्रिया !" मैं जानता हूँ कि इस उपालम्भसे दुनियाका कोई कवि हारा नहीं है पर इसका मतलब यह नहीं कि कोई लजाये नहीं तो उसे डाँटा भी न जाय। मैं कहता हूँ कि कवि बनना है मेरे दोस्तो, तो फक्कड़ बनो। शिरीषकी मस्तीकी ओर देखो। लेकिन अनुभवने मुझे बताया है कि कोई किसीकी सुनता नहीं। मरने दो !

कालिदास वजन ठीक रख सकते थे; क्योंकि वे अनासक्त योगीकी स्थिर-प्रज्ञता और विदग्ध-प्रेमीका हृदय पा चुके थे। कवि होनेसे क्या होता है ? मैं भी छंद बना लेता हूँ, तुक जोड़ लेता हूँ और कालिदास भी छंद बना लेते थे तुक भी जोड़ ही सकते होंगे इसलिए हम दोनों एक श्रेणीके नहीं हो जाते। पुराने सहृदयने किसी ऐसे ही दावेदारको फटकारते हुए कहा था 'वयमपि कवयः कवयः कवयस्ते कालिदासाद्याः !' मैं तो मुग्ध और विस्मय-विमूढ होकर कालिदासके एक-एक श्लोकको देखकर हैरान हो जाता हूँ। अब इस शिरीषके फूलका ही एक उदाहरण लीजिए। शकुन्तला बहुत सुन्दर थी। सुन्दर क्या होनेसे कोई हो जाता है ? देखना चाहिये कि कितने सुन्दर हृदयसे वह सौन्दर्य डुबकी लगाकर निकला है। शकुन्तला कालिदासके हृदयसे निकली थी। विधाताकी ओरसे कोई कार्पण्य नहीं था, कविकी ओरसे भी नहीं। राजा दुष्यन्त भी अच्छे-भले प्रेमी थे। उन्होंने शकुन्तलाका एक चित्र बनाया था; लेकिन रह-रहकर उनका मन खीझ उठता था। उहूँ, कहीं-न-कहीं कुछ छूट गया है। बड़ी देरके बाद उन्हें समझमें आया कि शकुन्तलाके कानोंमें वे उस शिरीष पुष्पको देना भूल गये हैं, जिसके केसर गण्डस्थलतक लटके हुए थे, और रह गया है शरच्चन्द्रकी किरणोंके समान कोमल और शुभ्र मृणालका हार।

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।

न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥

कालिदासने यह श्लोक न लिख दिया होता तो मैं समझता कि वे भी बस और कवियोंकी भाँति कवि थे, सौन्दर्यपर मुग्ध, दुःखसे अभिभूत, सुखसे गद्गद !! पर कालिदास सौन्दर्यके बाह्य आवरणको भेदकर उसके भीतरतक पहुँच जाते थे, दुःख हो कि सुख, वे अपना भाव-रस उस अनासक्त कृषीवलकी भाँति खींच लेते थे जो निर्दलित ईक्षुदण्डसे रस निकाल लेता है। कालिदास महान थे, क्योंकि वे अनासक्त रह सके थे। कुछ इसी श्रेणीकी अनासक्ति आधुनिक हिन्दी कवि सुमित्रानन्दन पंतमें है। कविवर रवीन्द्रनाथमें यह अनासक्ति थी। एक जगह उन्होंने लिखा है 'राजोद्यानका सिंहद्वार कितना ही अभ्रभेदी क्यों न हो, उसकी शिल्प-कला कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, वह यह नहीं कहता कि हममें आकर ही सारा रास्ता समाप्त हो गया। असल गन्तव्य स्थान उसे अतिक्रम करनेके बाद ही है। यही बताना उसका कर्तव्य है।' फूल हो या पेड़ वह अपने-आपमें समाप्त नहीं है। वह किसी अन्य वस्तुको दिखानेके लिए उठी हुई अँगुली है। वह इशारा है।

शिरीष तरु सचमुच पक्के अवधूतकी भाँति मेरे मनमें ऐसी तरंगें जगा देता है जो ऊपरकी ओर उठती रहती हैं। इस चिलकती धूपमें इतना सरस वह कैसे बना रहता है? क्या ये बाह्य परिवर्तन धूप, वर्षा, आँधी, लू अपने-आपमें सत्य नहीं हैं? हमारे देशके ऊपरसे जो यह मार-काट, अग्निदाह, लूट-पाट, खून-खच्चरका बवंडर बह गया है, उसके भीतर भी क्या स्थिर रहा जा सकता है? शिरीष रह सका है। अपने देशका एक बूढ़ा रह सका था। क्यों? मेरा मन पूछता है कि ऐसा क्यों सम्भव हुआ? क्योंकि शिरीष भी अवधूत है और अपने देशका वह बूढ़ा भी अवधूत था। शिरीष वायुमण्डलसे रस खींचकर इतना कोमल और इतना कठोर है। गांधी भी वायुमण्डलसे रस खींचकर इतना कोमल और इतना कठोर हो सका था। मैं जब-जब शिरीषकी ओर देखता हूँ तब-तब हूक उठती है—हाय, वह अवधूत आज कहाँ है!

—

# भगवान् महाकालका कुण्ठनृत्य

भारतवर्ष विदेशी शासनसे मुक्त हो गया है। इस मुक्तिके पीछे हमारे देशका बड़ा ही रोमहर्षक इतिहास है। लाखों जेलमें सड़ते रहे हैं, हजारों घुल-घुलकर मर गये हैं, सैकड़ो फाँसीपर लटक गये हैं, अपार कष्टोंसे भरा हमारा मुक्ति-संग्राम अब समाप्त हुआ है। अपनी पराधीनता और बेबसीके दिनोंमे भी एक बातमे हम बराबर विरोधियोंसे बीस रहे है। हममे उनकी अपेक्षा कहीं अधिक नैतिक बल रहा है, घोर विपत्तिके क्षणोंमे भी हमने अन्यायका पक्ष कभी नहीं लिया है, जिस बातको हम सत्य समझ रहे है उसके लिए बडासे बड़ा बलिदान देनेको तैयार भी रहे है। हमने निर्भीक भावसे, गर्वके साथ अपना मस्तक उन्नत रखा है। यही कारण है कि हम केवल जीतते ही गये है। महात्मा गाँधी जैसे युगावतारका नेतृत्व वरण करनेकी शक्ति और बुद्धिमत्ता हममे बराबर बनी रही है। अपने आचरण और वक्तव्योंसे हमने एशिया और अफ्रिकाके करोड़ो अधिवासियों और अन्य दुखी मनुष्योंमे आशा और उत्साहका संचार किया है। जिन लोगोंने इस अपूर्व मुक्ति-संग्रामको निरपेक्ष भावसे देखा है वे इसके नैतिक स्वरको देखकर चकित रह गये है। किस प्रकार इस हीन अवस्थामें भी भारतवर्ष इतना उन्नत रह सका ?

हमारे पूर्वज महापुरुषोने शत्रुके भी गुणोका बखान करनेकी सलाह दी है शत्रोरपि गुणा वाच्याः। हमे अगरेजों जैसा शत्रु मिला था। अगरेजमे हजार दोष हों, एक बड़ा भारी गुण भी है। उसे लाज-शर्म है। वह अन्याय करता जरूर है पर उस अन्यायसे लज्जित भी होता है। क्योंकि उसकी परम्परा महान् है और उसके साहित्यमें उदात्त गुणोकी प्रतिष्ठा है। बहुत कुछ भारतवर्ष जैसा ही। हमारा साहित्य और भी विशद है और भी धर्ममूलक है और हमारी परम्परा और भी महान् है

और भी उदार है। हममे भी लाज-हया बहुत है। नित्य समाचार-पत्रोमें हम अपने नंगे विरोधियोको देखते है जो झूठ बोलनेमे जरा भी सकुचित नहीं होते और पाप करके दूसरोपर निर्लज्जतापूर्वक दोषारोपण करते है। सुनकर हमारा खून खौल जाता है। हम सोचते है कि ऐसा भी बेहया कोई हो सकता है! कभी-कभी हम झुँझलाते है, अपने नेताओंके सदुपदेशोसे चिढ जाते हैं, कह उठते है, बेहया लोगोके सामने इन उपदेशोका क्या मूल्य है। पर सही बात यह है कि हम बहुत अधिक बेहया हो नही सकते। उस रास्ते हम चाहे भी तो बढ नहीं सकते। हमारी हजारो वर्षों-की सस्कृति हमारा पैर जकड लेती है। हमारा उदार साहित्य हमें लज्जित करता है। मुँहसे हम चाहे जितना चिढ ले और कुढ ले, लगाई और निर्लज्जता हमारे रक्तमें है ही नही। जब कभी वह आती है, क्षणिक आगन्तुकके रूपमें ही आती है।

यह सचाई है। यही वास्तविकता है। जो हम हो नही सकते उसके लिए प्रयत्न करना बेकार है। हम क्रूर और निर्लज्ज तो होनेसे रहे। उत्तेजनामें हम कभी घोर अन्याय कर सकते हैं परन्तु निश्चित रूपमे हम बादमें पछतायेंगे। चुटकी बजाके हजारों वर्षकी सस्कृतिको उडाया नहीं जा सकता। हम यह नही कह सकते कि हममे दोष नही है। दोष एक-दो है? हमने कम पाप किये है? करोडोको हमने अनजानमे नीच बना रखा है, करोडोंको जान-बूझकर पैरों तले दबा रखा है, और करोड़ोंको हमने उपेक्षासे महान् सन्देशोंके अयोग्य समझ रखा है। नतीजा यह होता है कि जब हम आगे बढने लगते है तब कुछ लोग नीचेकी ओर खीचते है जिन्हें पैरों तले दबाया है वे कैसे आगे बढने देगे? और कुछ लोग पीछेकी ओर खींचते है। सो, दोष तो हममें बहुत हैं, उसी सस्कृति और साहित्यने इन दोषोंको भी पाल-पोसा है। उसको खोलनेसे क्या फायदा है? यह शतच्छिद्र चादर खोलकर दिखानेकी चीज नही है, इसको तह लगाकर रख देना ही अच्छा है 'अय पट. सवृत एव शोभते।' परन्तु यह सब होते हुए भी हमारी परम्परा महान् और उदार है, हमारा साहित्य

विशद और धर्ममूलक है। हम अपने इन दोषोंके लिए लज्जित होते हैं और जिसमें लाज-हया बच रही है उसकी रक्षा इतिहास-विधाता बराबर करते आये हैं। यह हमारी विशाल सांस्कृतिक महिमाका ही प्रभाव है कि हम अन्याय करके लज्जित होते हैं। और अगर यह लज्जा सच्ची हुई तो हम अन्यायका प्रतिकार भी कर सकते हैं। लाज-शर्मका रहना अच्छा है, अन्याय करके पछतानेकी आदत बुरी नहीं है। वैसे, सबसे अच्छी बात तो यह होती कि हम अन्याय करते ही नहीं। लेकिन आदमी आदमी ही है। कभी-कभी उत्तेजित भी होता है, कभी-कभी लज्जित भी होना चाहिये। बुरा है, लेकिन यह बुराई भलाईसे अच्छी है।

मुक्तिका संग्राम जिन दिनों चल रहा था, उन दिनों हमें महान् शत्रु मिला था। वह गुस्सेमें हमें कसकर मारता था लेकिन फिर पछताता था और अवसर मिलनेपर वीरताका सम्मान वीरकी ही भाँति करता था। मुक्तिका संग्राम समाप्त होते ही हमें दूसरे प्रकारके शत्रुओंसे पाला पड़ा है। कुछ तो ऐसे लगे हैं कि 'राम राम' कहनेके सिवा कुछ दूसरा सूझता ही नहीं। कुछ ऐसे कसाइयाँ हैं कि बस मुँहमें राम बगलमें छुरी। इन सबके साथ निबटना है। निबटना तो होगा ही। दुश्मन दुश्मन है। घरमें हो तो, बाहर हो तो। और भारतवर्षका सबसे विकट शत्रु वह है जो लाज-हयाका नाम नहीं जानता, जो झूठ बोलकर गर्व करता है, जो छुरा भोंक कर हँसा करता है। जिसे धर्म-कर्मसे कोई वास्ता नहीं उससे उलझना हमारे लिए बड़ा कठिन होगा। रक्तमें बेहयाई न हो तो उधार माँगनेसे थोड़े ही मिलेगी? और यहीं इस वीरप्रसू भूमिमें महाकालका कुण्ठनृत्य शुरू होता है। हम अगर अबतकके साधे हुए महान् अस्त्रका उपयोग करते हैं तो पता नहीं हमें सफलता मिलेगी या नहीं। जब जंगली सूअर आँख मूँदकर आक्रमण करता है तब उसे सदुपदेशोंसे शान्त किया जा सकता है या नहीं? शायद किया जा सकता हो, शायद न किया जा सकता हो। मुझे एक मन्त्र-विशेषज्ञकी बात मालूम है। वे मन्त्रबलसे सूअर क्या, बाघको भी बाँध सकनेका दावा करते थे। परन्तु एक बार

जब सचमुच ही सूअरके आक्रमणके शिकार हुए तब मन्त्रपर उनका विश्वास नहीं हुआ, हाथकी लाठीका ही सहारा लेना पड़ा। साधारणसे कुछ ऊँचे पहुँचा हुआ आदमी भी भौतिक शक्तियोंका कायल होता है। बहुत ऊँचे पहुँचा हुआ आदमी भी भौतिक शक्तियोंका कायल होता है। बहुत ऊँचे जो पहुँच सके हैं उनकी संख्या बहुत थोडी है। महात्मा गाँधीके इस देशमें भी सचाई यही है।

बडी कठिन समस्या है। झूठी बातोंको सुनकर चुप हो रहना ही भले आदमीकी चाल है। परन्तु इस स्वार्थ और लिप्साके जगत्में जिन लोगोंने करोडोंके जीवन-मरणका भार कन्धेपर लिया है वे उपेक्षा भी नहीं कर सकते। जरा भी गफलत हुई कि सारे संसारमें आपके विरुद्ध जहरीला वातावरण तैयार हो जायगा। आधुनिक युगका यह एक बड़ा भारी अभिशाप है कि गलत बातें बडी तेजीसे फैल जाती है। समाचारोंके शीघ्र आदान-प्रदानके साधन इस युगमें बडे प्रबल हैं और धैर्य और शान्तिसे मनुष्यकी भलाईके सोचनेके साधन अब भी बहुत दुर्बल है। सो, जहाँ हमें चुप होना चाहिये वहाँ चुप रह सकना खतरनाक हो गया है। हमारा सारा साहित्य नीति और सचाईका साहित्य है। भारतवर्षकी आत्मा कभी दगा-फसाद और टंटेको पसन्द नहीं करती परन्तु इतनी तेजीसे कूटनीति और मिथ्याका चक्र चलाया जा रहा है कि हम चुप बैठ नहीं सकते। अगर लाखों करोडोंको हत्यासे बचना है तो हमें टंटेमें पड़ना ही होगा। हम किसीको मारना नहीं चाहते पर कोई हमपर अन्यायसे टूट पडे तो हमें जरूर कुछ करना पडेगा। हमारे अन्दर जो दया है और अन्याय करके पछतानेकी जो आदत है उसे कोई हमारी दुर्बलता समझे और हमें सारी दुनियाके सामने बदनाम करे यह हमसे नहीं सहा जायगा। सहा जाना भी नहीं चाहिये। सो, हालत यह है कि हम सचाई और भद्रतापर दृढ रहते हैं और ओछे वाद-विवाद और गन्दे-गन्दे फसादोंमें नहीं पड़ते तो हमारे विरुद्ध संसार भरमें जहरीला वातावरण तैयार किया जाता है, और उनमें उतर पडते है तो हजारों वर्षोंके संस्कार बाधा देते है। इधर बढ़ते

हैं तो उधर खिंचना पडता है, उधर बढते हैं तो इधर खिंचना पड़ता है। राजनीति कोई अजपा-जाप तो है नहीं ? यह स्वार्थोंका संघर्ष है। करोड़ों मनुष्योंकी इज्जत और जीवन-मरणका भार जिन्होंने उठाया है वे समाधि नहीं लगा सकते। उन्हे स्वार्थोंके संघर्षमें पड़ना ही पडेगा। और फिर भी हमें स्वार्थी नहीं बनना है।

हां कैसे ? होना तो पड़ेगा ही इसे। हमने जब करोड़ोंके जीवनकी रक्षाका भार लिया है तब हम उनपर आँच नहीं आने देंगे, चाहे जो हो जाय। हमने जब करोडों दूर देशके दलित अधिवासियोंके हृदयमें आशाकी ज्योति जगायी है तब हम उन्हे निराश नहीं होने देंगे। हमने जब करोडोंको विपत्ति और दासतासे उबारनेका वचन दिया है तब हम वचन पालन अवश्य करेंगे चाहे जितना भी कष्ट झेलना पड़े। 'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहि वरु वचन न जाई।' यही हमारी महनीय परम्पराका निचोड है। हम न अन्याय करेंगे, न होने देंगे। हमने विश्व-दरबारमें अपना महत्त्वपूर्ण आसन ग्रहण किया है। न हम चुप रह सकते है, न गलतबयानी कर सकते हैं। मनु भगवान्‌ने दोनोंको पाप कहा है 'अब्रुवन् विब्रुवन् वाऽपि नरो भवति किल्विषी।' सो किल्विषी पाप भाजन तो हम नहीं होंगे। हमें स्वार्थ और परमार्थमें सामञ्जस्य तो खोजना ही पडेगा।

हमें महान् संयोग मिला है। हमारे पूज्य नेताने दिखा दिया है कि बडेसे बडे सत्यका व्यवहारसे कोई विरोध नहीं है। निष्क्रिय रहकर सत्यकी बातें बघारना आसान है। कार्य-क्षेत्रमें स्वार्थोंकी संघर्पस्थलीमें महान् आदर्शोंकी रक्षा करना कठिन काम है। और हमें वही करना है।

महाकाल असीम है, उनका नृत्य भी निर्बन्ध है। पर यह जगत् ससीम है। इसी सीमाओंसे घिरे सम्पूर्ण विश्वमें महाकालको नृत्य करना पड रहा है। प्रसिद्ध नाटककार विशाखदत्तने उस अद्भुत नृत्यकी एक कल्पना की थी। अगर उद्दण्ड ताण्डवके आवेशमें वे एक क्षणके लिए भी सन्तुलन खो देते है तो कहीं धरती धसक जाती है, कहीं दिङ्मण्डल

लड़खड़ा उठता है और अगर एक निमेषके लिए भी लक्ष्यपर दृष्टि स्थिरकर देते हैं तो आगकी चिनगारियोंसे दिगन्त चिनचिना उठता है। आधार छोटा हो तो अबाध नृत्य चलेगा कैसे ? तो, महाकाल इसलिए आधार-को दृष्टिमें रखकर कभी भुजाओंको समेटते हैं तो कभी पैरोंको सँभाल लेते हैं अद्भुत है यह कुण्ठनृत्य। परन्तु यदि एक क्षणके लिए वह कुण्ठ-नृत्य रुक जाय तो संसार अचल हो जाय, बाधाओं तथा विघ्नोंके स्वरूप उसकी राह रोक लें। महाकालको अपना यह ताण्डव चलाते ही रहना होगा। राजनीतिमें महान् आदर्शोंका पालन इस 'कुण्ठनृत्य' के समान ही है। हम केवल आशा कर सकते हैं कि इतिहास-विधाता हमारी रक्षा अवश्य करेंगे। महाकालका कुण्ठनृत्य ही हमें शरण देगा, वही हमारी रक्षा करेगा। हमें अपने आदर्शोंसे कभी भी च्युत नहीं होना चाहिये। घृणा और द्वेष हमारा रास्ता नहीं है, अन्याय करना या किये अन्यायको बर्दाश्त करना हमारा स्वभाव नहीं है। हम दुर्बलकी रक्षा करेंगे और अत्याचारीका विरोध करेंगे। इस महान् आदर्शके लिए हमें जूझना पड़ेगा, चोट सहनी पड़ेगी, लेकिन हम रुकेंगे नहीं। महाकाल नहीं रुकते। वे ही हमारे आदर्श हैं, क्योंकि हम इतिहास-निर्माण करने चले हैं। महान् पर-म्पराके जनक है! महान् भारतवर्ष, रुको मत! ठिठको मत! सत्य और न्यायपर दृढ़ रहो, भगवान् महाकालका कुण्ठनृत्य अवश्य तुम्हें सत्यके आसनपर सुरक्षित रखेगा।

> पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवनतेरक्षतःस्वैरपातैः-
> संकोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम्।
> दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रां ज्वलनकणमुचं बध्नतो दाहभीते-
> रित्याधारानुरोधात् त्रिपुरविजयिनः पातु वः कुण्ठनृत्तम्।

# महात्माके महाप्रयाणके बाद

महात्माजीको एक पढे-लिखे हिन्दू युवकने गोली मार दी यह समाचार कुछ ऐसा विचित्र और अप्रत्याशित था कि शायद ही किसीने सुनते ही विश्वास कर लिया हो। मुझे भी शुरूमे विश्वास नही हुआ, परन्तु बहुत शीघ्र इसकी सचाईका प्रमाण मिल गया। महात्माजीको सचमुच ही किसीने गोली मार दी थी, सचमुच ही वे सदाके लिए हमे छोडकर चले गये थे, सचमुच ही पशुताने मनुष्यताके अमर पौवेको चर डाला था, सचमुच ही भारतवर्षका भविष्य कुछ समयके लिए अन्धकारसे आच्छन्न हो गया था, सचमुच ही हिन्दू धर्मके सिरपर वह कलक लग गया था जो उसके हजारो वर्षके इतिहासमे अपरिचित था। महात्माजी सचमुच मार डाले गये। उस दिन और उसके दूसरे दिन भी हम लोग देरतक रेडियो सुनते रहे। इस घृणित हत्याने ससारको बुरी तरह आलोडित कर डाला। हम रेडियोपर महात्माजीके प्रति प्रदत्त 'श्रद्धाञ्जलि' अर्थात् गुणगान सुनते रहे। बोलनेवालोमे किसीकी वाणी रुद्ध हो जाती थी, किसीकी तेज, किसीके स्वरमे शोकका वेग प्रबल होता था, किसीकेमें क्रोधका। हम सुन रहे थे। न जाने क्यो सुनना उस दिन अच्छा लग रहा था। मन मानो अपनेको कही उलझा रखना चाहता था। मानो अपनेको भुलानेके लिए ही हम दूसरोंकी बातोंमे उलझे हो। बडी देरतक यही अवस्था रही
'ऑखिनमें जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करै।"

फिर आपसमे चर्चा होने लगी। समाचारपत्रोके लम्बे-लम्बे पृष्ठोपर यह काली कहानी छपी और श्रद्धाञ्जलिका तॉता चलता रहा। किसी किसीकी श्रद्धाञ्जलिका स्वर दबा हुआ पाया गया, लोग नाराज हो गये, किसी किसीने भावावेशमे बहुत कुछ कह डाला, लोग कुछ प्रसन्न हो गये। यह सिलसिला भी कुछ दिन चलता रहा। फिर देशव्यापी धर-पकड़

शुरू हुई। किसीको ठीक पता नहीं था कि षड्यन्त्रका क्या और कैसा रूप है, पर सब समझते थे कि है वह बहुत व्यापक। किसीने इस दलको डाँटा, किसीने उस दलको। शोक, क्रोध और घृणा एकके बाद एक आती रही और जाती रही। आज भी मन मुक्त नहीं हुआ है। महात्माजीको खोकर हमने सचमुच क्या खो दिया है यह आज भी ठीक-ठीक समझमे नहीं आ रहा है। इतना भर निश्चित है कि हम अनाथ हो गये है। हम संसारकी दृष्टिमें गिर गये है। और कही भी सहारा नहीं खोज पा रहे हैं। निरपेक्ष और अनाविल दृष्टिसे देखनेकी स्थितिमे हम आज भी नहीं हैं। कब होंगे, इसका भी कोई ठिकाना नहीं है।

२

एक व्यक्ति कितना महान् और कितना व्यापक प्रभावशाली हो सकता है! महात्माजी भारतीय जनताकी समस्त आशा-आकाक्षाओके साक्षात् विग्रह थे। मै केवल हैरान होकर सोचता हूँ कि क्या बात ऐसी रही जिसने इस शीर्णकाय मनुष्यको इतना श्रद्धेय, इतना महिमाशाली और इतना प्रिय बना दिया था। महात्माजीके प्रति प्रकट की गयी श्रद्धाञ्जलियोंका विश्लेषण करता हूँ तो मेरा आश्चर्य ही बढ़ता है। लोगोने उनके जीवनके अनेक गुणोकी यादमे आँसू बहाये है। उनका अपूर्व त्याग, उनकी अद्भुत सत्यनिष्ठा, उनका असाधारण विवेक, उनकी अपार प्रेमधारा, उनकी अनन्य भक्ति सबकी ओर लोगोका ध्यान गया है। शोक भी कैसा पावक-धर्म है। जिन लोगोंके मुँहसे हम कभी प्रेम और सत्यकी बात सुननेकी आशा नहीं कर रहे थे, वे भी द्विधाहीन कण्ठसे इनकी महिमा घोषित कर रहे हैं। जिन कूटनीतिविशारदोंके मुखसे कभी उच्छ्वास और आवेगका एक भी शब्द नहीं सुना गया, उन्होंने भी अपना मौन भंग किया है। किसी-किसीके गलेमे निश्चित रूपसे आवेगपिच्छिल भाषा सुनी गयी है। महात्माने जीकर जो आश्चर्य दिखाया था, मरकर उसका कई गुना आश्चर्य दिखाया! यह सब कैसे सम्भव हुआ? क्या सचमुच आध्यात्मिक शक्तिकी विजय हुई है?

एक बात निश्चित है। संसारमे सद्गुणोंके समझदार अब भी हैं। लोग सत्य और अहिंसाको आज भी बड़ी चीज मानते है, आज भी प्रेम और भक्तिको लोग आदरकी दृष्टिसे देखते है, आज भी लोग अन्यायके प्रतिवाद करनेवालेको श्रद्धापूर्वक स्मरण करते है, आज भी विवेक और निष्ठाको वही सम्मान प्राप्त है जो श्रीकृष्ण, बुद्ध या विक्रमादित्यके युगमे प्राप्त था। यह आशाजनक समाचार है कि ससारके प्रत्येक देशमें लोग उन समस्त आचरणोको बड़ा समझते है, जिन्हे प्रत्येक युगके महापुरुष बड़ा कहते आये है। मनुष्यता आज भी आसुरी वृत्तिसे श्रेष्ठ मानी जाती है। आशा की जानी चाहिये कि एक ऐसा समय आयेगा जब समस्त ससार हिंसा, घृणा और छीनाझपटीके विषाक्त वातावरणसे मुक्त होगा; यदि शब्दोंका कुछ अर्थ होता है तो महात्माजीके निधनके अवसरपर प्रकट किये गये शोकोद्गारोसे आशा और विश्वासका ही सचार होता है।

३

जो बात मामूली बुद्धिवाले मनुष्यकी समझमे नही आती, वह यह है कि तप और त्यागकी महिमा यदि सबको मालूम है तो क्यों नहीं लोग उन्हें अपनाते? यदि सचमुच ही लोग अहिंसाको बड़ी वस्तु मानते हैं तो क्या कारण है कि महात्माजीके प्रति शोक प्रकट करनेके साथ ही साथ तलवारको सानपर चढ़ाते जा रहे है? लोग यदि बराबरी और भाई-चारेके लिए मर मिटनेवालेकी प्रशसा करते हैं, तो क्यों नही साम्राज्य और शोषणके मोहको छोड देते?

मै बराबर इस रास्ते सोचता रहा हूँ। ससारमें उन गुणोंके प्रति पर्याप्त श्रद्धा है जिनके प्रचारके लिए महात्माजी जिये और मरे; तो फिर...

एक बार जी क्षुब्ध हो जाता है। कूटनीतिज्ञोंके मुँहसे सत्यकी प्रशंसा सुनकर मनमे ग्लानि होती है, सेनापतियोके मुँहसे अहिंसाकी स्तुति सुनता हूँ, तो क्रोध होता है; सेठों और सामन्तोंके मुँहसे त्याग और तपकी चर्चा सुनता हूँ तो झुँझलाहट पैदा होती है; और साम्राज्यवादियोके मुँहसे तो गाधीका नाम सुनकर ही घृणा हो आती है। जानता हूँ, गाधीके

अनुयायीके मनमे ऐसे विकार नही आने चाहिये, पर लाचार हूँ। मैं अपनेको सब समय रोक नही पाता। यद्यपि मुझसे अबतक किसीके प्रति कोई अशिष्ट आचरण नही हुआ है, लेकिन मनमे इन विकारोंका आना भी क्या कम बुरा है? इन अन्तर्विकारोंका कारण क्या है?

शायद दुनियाभरके लोगोंकी कमजोरीका पता लगानेकी अपेक्षा अपनी कमजोरीका पता लगा लेना ज्यादा विश्वसनीय होता है। केवल निराश होकर सोचता हूँ कि छोटी बुद्धिका इस प्रकार हाथ-पैर मारना कुछ फलप्रसू भी है?

मैंने महात्माजीके अनेक गुणोंको अपने भीतर ले आनेका सकल्प कई बार किया है। सकल्पोंकी सचाईके बारेमे मुझे रत्तीभर भी सन्देह नहीं है। पर बड़ी जल्दी मै विचलित हो गया हूँ। मेरे-जैसे और लोग भी दुनियामें होगे। मैंने अनुभव किया है कि बड़ी बातोंका जीवनमे उतार लेना भी तपःसाध्य है। केवल सकल्पमात्रसे कुछ नही होता। कठोर सयम और मानसिक अनुशासनके बिना मनुष्य किसी भी सद्गुणको नही अपना सकता। यह सयम और अनुशासन बडे आयाससे प्राप्त होते हैं। इसके लिए अभ्यासकी जरूरत होती है। आजकलकी भाषामे इसे चरित्र-बल कहने लगे है। पुराने लोग इसे 'जितेन्द्रियता' कहते थे; और यद्यपि वे भाषामे कुछ कठोर जान पड़ते हैं, तथापि सचाईतक वे ही पहुँचे थे। महात्माजी उनकी सचाईको अनुभव कर चुके थे। इसलिए वे कभी ऐसी भाषा बोला करते थे जो आधुनिक बुद्धिमें आसानीसे नही प्रवेश कर पाती थी।

४

मैंने सन् १९२०–२१ मे सुना था कि महात्माजी प्रह्लादके समान भक्त हैं। किसी देहाती भक्तने यह बात मुझे बतायी थी। बहुत दिनों-तक मैं महात्माजीको प्रह्लादका अवतार समझता रहा। बादमें जब बुद्धिको अधिक बहकने और विकसनेका मौका मिला तो अनेक विद्वानों और सहृदयोंके मुखसे विभिन्न ऐतिहासिक पुरुषोंके साथ महात्माजी

की तुलना सुनी। किसीने बुद्धसे, किसीने ईसासे और किसीने युधिष्ठिरसे उनकी तुलना की। एक मेरे कलाकार मित्रका दावा है कि तुलसीदासके पुराने चित्रमे जो चेहरा है वह निश्चित रूपसे महात्माजीके चेहरेसे मिलता है। उन्होने महात्माजीके चेहरेको रामायत वैष्णवके रूपमे सजाकर तुलसी-दासका चित्र बनाया भी है। ऐतिहासिक पुरुषोके प्रवाहमे मेरा उत्तरकालीन चित्त बह गया और प्रह्लादवाली बात दब गयी। लेकिन महात्माजीकी हत्याके तीन चार दिन बाद वह बात मेरे मनमे फिरसे उदित हो आयी। वर्षोकी भूली बात क्रमसे मानस रंगमंचपर क्यो आ गयी यह एक रहस्य ही है। शायद मानस शास्त्रमे इसका कोई कारण बताया गया होगा। कारण जो भी हो, प्रह्लादकी कथा मुझे स्मरण हो आयी। भागवत निकालकर मैने नृसिंहस्तुति पाठ किया। पिछले कई दिनोमे इस महान् स्तोत्रको मैने कई बार पढ़ा है। शास्त्रकारने कितने शास्त्र मथनके बाद यह नवनीत निकाला है! इसमे एक स्थानपर प्रह्लादने भगवान्की स्तुति करते हुए कहा है कि हे परम पुरुष, मौन, व्रत, शास्त्रचर्या, जप-तप समाधि आदि बाते प्रायः ही उन लोगोके लिए सिर्फ जीविका चलानेकी साधन मात्र रह जाती हैं जिन्होने ( अभ्यास और वैराग्यके द्वारा ) अपने इन्द्रियगणको वशमे नही कर लिया है। जबतक मनुष्य अपने इन्द्रियोको नही जीत लेता, उसमे दृढ़ चरित्रबलका विकास नही हो जाता जबतक वह इन बातोको अपने जीवनमे नही ग्रहण कर पाता। असयमी मनुष्य इनका महत्व न समझते हो, सो बात नहीं है, पर उनके लिए यह महत्व केवल बात बनाकर जीविका चलानेका साधन रह जाता है। जो लोग दाम्भिक होते हैं वे तो यह भी नही कर पाते!

> **मौन-व्रत श्रुत-तपोऽध्ययन-स्वधर्म-**
> **व्याख्या-रहो-जप-समाधय आपवर्ग्याः।**
> **प्रायः परं पुरुष तेत्वजितेन्द्रियाणां**
> **वार्ता भवन्त्युत नवात्र तु दाम्भिकानाम्॥**

प्रह्लादके इस एक कथनसे उनका सम्पूर्ण जीवन समझमे आ जाता है

और साथ ही उन हजारों दुर्बल चरित्र व्यक्तियोंका डुलमुल जीवन भी समझमें आ जाता है, जो भली बातोंकी महिमा समझते हुए भी उन्हें जीवनमें ग्रहण नहीं कर पाते। महात्माजीने अपने सम्पूर्ण जीवनसे इस बातको दिखा दिया है कि सत्य तब जाकर वास्तव और परिपूर्ण होता है, जब उसे जीवनमें स्थान मिल जाय। और सत्यको जीवनमें ग्रहण करनेकी योग्यता बड़े कठोर धैर्य और दीर्घ तपसे प्राप्त होती है। जिसमें वह धैर्य नहीं है और वह तप नहीं है, उसके लिए मनुष्यके समस्त सद्गुण केवल बातकी बात रह जाते हैं, वे इसे जीविका उपार्जनका साधन बना लेते हैं। जबतक नाना विषय विकारोंकी ओर खींचनेवाली इन्द्रियाँ वशमें नहीं आ जातीं, तबतक बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं होती। उससे देखा हुआ तथ्य मलिन और अविश्वसनीय होता है, महात्माजीके अत्यन्त प्रिय गीताके श्लोकोंमें यही बात कही गयी है "वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।"

५

यह ठीक है कि संयम और जितेन्द्रियता बडे भारी गुण हैं, पर ऐसा लगता है कि यह भी बाह्य वस्तु हैं। यह जो इन्द्रियदमन है, मनोविकारोंको रोकनेका अभ्यास है, यह भी अभावात्मक वस्तु है। केवल इतनेसे आदमी वह शक्तिपुञ्ज नहीं बन सकता जो महात्माजी थे। मुझे बहुत बार ऐसा लगा है कि कोई भीतरी महान् वस्तु ऐसी अवश्य है जिसके होनेसे मनुष्यको जितेन्द्रियता प्राप्त होती है या प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। मनुष्यके भीतर वह कौन-सा बड़ा रहस्यपुञ्ज है, जो अपने घातक व्यक्तिपर भी प्रेम बरसा देता है? क्या है वह अद्भुत पदार्थ जो समस्त प्राणियोंके प्रति मैत्रीके रूपमें प्रकाशित होता है?

पिछले सत्ताईस वर्षोंसे मैं महात्माजीकी बातें सुनता आ रहा हूँ और उनके किये कार्योंको देखता आ रहा हूँ। कई बातोंमें उनके आदर्शोंपर चलनेका प्रयत्न मैंने किया है। अधिकांशमें मेरे प्रयत्न असफल हुए हैं। कई बार मुझे ऐसा लगा है कि महात्माजी जो कह रहे हैं वह ठीक नहीं है, वह सत्यका एक ही पहलू है। पर विश्वासपूर्वक मैं उनके

वक्तव्योंका कभी प्रतिवाद नहीं कर सका हूँ। केवल एक वार मैंने उनके भाषा सम्बन्धी विचारोंपर अपना मत प्रकट करनेका साहस किया था, उन्होने धैर्यसे उसे सुना और मेरी युक्तियोको चुप-चाप अस्वीकार कर दिया ! अर्थात् जिस प्रकार मैं उनका अनुगमन करनेमे असफल रहा हूँ उसी प्रकार उनका विरोध करनेमे भी ! मै नियमित रूपसे चरखा नहीं चला सका, उसकी सम्पूर्ण उपयोगिता भी नही समझ सका। मै सत्यवादी नहीं वन सका। प्राणिमात्रके प्रति मानसिक मैत्रीका आदर्श-पालन मैंने करनेका प्रयत्न किया, लेकिन व्यवहारमे कई वार विपरीत कर्म करना पड़ा। मेरे मनकी यह सवसे बड़ी वासना रही है कि मै भगवद्भक्त वन सकूँ पर मै धर्मको समस्त जीवनका एकमात्र आधार नहीं वना पाया। मेरा पक्का विश्वास हो गया है कि मेरा जीवन अवञ्चक धार्मिकका जीवन नही हो सकेगा। धार्मिक होनेपर मैं वञ्चक वन जाऊँगा और अवञ्चक रहनेपर मै धार्मिक नहीं वन सकूँगा। मै अपनी वात कह रहा हूँ। इस कथनका यह अर्थ एकदम नहीं है कि दुनिया मे कोई भी अवञ्चक धार्मिक हो ही नहीं सकता, हो सकता है, पर वह उस धातुका वना नहीं होगा जिसका मै वना हूँ। महात्माजीके प्रति मेरे मनमे इतनी श्रद्धा रही है जितनी किसीके मनमे अपने उपास्य देवताकी होती है, परन्तु एक दिन मुझे उनकी ही वात सोचते-सोचते ऐसा मालूम हुआ कि मुझे इस वातके लिए एकदम दुःखी नहीं होना चाहिये कि मैं महात्माजीका अनुसरण नहीं कर पा रहा हूं ! मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैं इस ससारमे निरर्थक उद्देश्यहीन वस्तु नहीं हूँ। महात्माजीने स्वय कहा था कि भगवान्को जो कुछ उनसे कराना है उसे वे कराकर ही रहेगे। जवतक भगवान्का वह चिन्तित उद्देश्य पूर्ण नही हो जाता, तवतक मुझको कोई मार नहीं सकता। मुझे ऐसा लगा कि महात्माजीका इस पृथ्वीपर उतरना जिस प्रकार वड़े उद्देश्यका एक साधनमात्र है वैसा ही प्रत्येक मनुष्यका है। मुझे इस विचारसे सन्तोष मिला। मै जो भी सचाईके साथ कर रहा हूँ वह सार्थक है, जो कुछ मैं वञ्चनाके लिए करता हूँ वह निरर्थक है और

असफल होनेको वाध्य है। शास्त्रकारकी भाषामें कहा जाय तो 'सत्यमेव जयते नानृतम्।' अनृत स्वय परास्त हो जाता है। मेरी बुद्धि और तर्क-शक्तिको इस विचारसे विराम नहीं मिलता, पर कोई एक ऐसा आन्तधर्म अवश्य है जो इससे सन्तोष पाता है। कितनी ही वार मुझे ऐसा लगा है कि वह आन्तधर्म उसे आत्मा कहिये या जो कुछ भी कहिये बहुत शक्तिशाली जीवनोपादान है। उसके सन्तुष्ट होनेसे मनुष्य वड़ी आसानीसे विरोधों और उपहासोंकी उपेक्षा कर सकता है। कई वार जब मैं उसे ठीक-ठीक पकड़ सका हूँ मेरे अन्दर अपार साहस आया है। मैं क्षण-भरके लिए कभी उसका साक्षात्कार पा जाता हूँ और उसपर मेरा विश्वास हो गया है कि वह विशाल शक्तिपुञ्ज मेरे भीतर है। जब-जब मैंने महात्माजीको विरोधों और उपहासोंकी उपेक्षा करके अपने मतपर स्थिर रहते देखा है, तब-तब सोचमें पड जाता रहा हूँ। आखिरी दिनोमे मै समझने लगा था कि महात्माजी नित्य उस महान् शक्तिपुञ्जको पकडे रह सकते हैं और इसलिए इतने महान् और तेजस्वी बने रहते है।

मैं जब उस अपार साहस और अद्भुत दृढ़ताकी वात एकान्तमे बैठकर सोचता हूँ तो रोमाच हो आता है। कभी-कभी मनमे यह भी तरंगित हो उठता है कि हम लोग उनके सामने इतने छोटे हैं जैसे हाथीके सामने चींटी। हमे अपनी सीमापर रुक जाना चाहिये। पर शीघ्र ही उनके पवित्र तेजका प्रभाव पड़ता है, लगता है, छोटेकी भी सार्थकता है। अपनी शक्तिभर इतिहास विधाताकी योजनामे अपने आपको खपा देना ही क्या कम है? गुरुदेवने अपनी मौजमे मनुष्यकी छोटी हस्तीको सार्थक करनेका जो मनोहर गान गाया है, वह महात्माजीके कर्ममय वीरताकी झंकारके समान ही है। रवीन्द्रनाथने मानो इस कर्मयोगीके सन्देशको ही अपनी शक्तिशाली भाषामे गूँथा है

**एक मने तोर एकताराते एकटि ये तार सेइटि वाजा**
**फुलवने तोर एकटि कुसुम ताइ निये तोर डालि साजा।**
**येखाने तोर सीमा, सेथाय आनन्दे तुइ थामिस एसे,**

ये कड़ि तोर प्रभुर देओया सेइ कड़ि तुइ निस रे हेसे।
लोकेर कथा निसने काने, फिरिसने आर हाजार टाने,
येन रे तोर हृदय जाने, हृदये तोर आछेन राजा।
एकताराते एकटि ये तार आपन मने सेइटि वाजा॥

छाया।

[ तेरे एकतारेमें जो एक-मात्र तार है उसे ही एक मनसे बजाता रह
तेरी फुलवारीमें जो एक फूल है उसीसे अपनी डलिया सजा ले;
जहाँ तेरी सीमा है वहीं आकर आनन्दपूर्वक रुक जा;
तेरे प्रभुने तुझे जो कौड़ी दी है उसीको तू हँसता हुआ ले ले।
लोगोंकी बातपर कान न दे, हजारों आकर्षणोंसे खिंचा हुआ मारा मारा न फिर;
ऐसा हो कि तेरा हृदय जानता रहे कि तेरे हृदयमें ही तेरे राजा ( वर्तमान ) हैं
एकतारेमें जो एक-मात्र तार है उसे ही अपनी मौजमें बजाता रह। ]

६

कहाँ जानता है वह हृदय कि उसके हृदयेश्वर हृदयमें ही है! जानता तो इतना सन्ताप और इतनी पीडा उसे अनुभूत नहीं होती। शास्त्रने कहा है 'य एव विदुरमृतास्ते भवन्ति'- जो उसे जानता है वह मृत्युसे अतीत हो जाता है। हमारी आँखोंके सामने 'उसे' जाननेवाला महापुरुष कलतक वर्तमान था। वह निःसन्देह 'अमृत' हो गया है। आज भारतवर्षके कोटि-कोटि मनुष्य धन्य हैं, जिन्होंने उसकी वाणी सुनी है, जिन्होंने उसके आदेश पालन करनेका यत्न किया है, जिन्होंने उस वीतरागको अपनी आँखोंसे देखा है। उसका नश्वर शरीर चला गया, पर उसकी जीतवाणी अब भी हमारे बीच रह गयी है, वह हमें भविष्यमें भी बल और साहस देती रहेगी।

महात्माजीने अपने 'हृदयेश्वर' को मनुष्यके परिपूर्ण सत्य रूपमें देखा था। मनुष्यका 'सत्य' बड़ा जटिल व्यापार है। निःसन्देह वह समस्त

विश्वके मूलमे वर्तमान महासत्य 'ऋतु'से भिन्न नहीं है। परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि कभी बडे-बड़े भगवद्भक्तोंने भी इस जटिल व्यापारको उपेक्षणीय और त्याज्य समझा है। मनुष्य समाजमे इतनी जटिलताएँ हैं कि अधकचरा आदमी केवल हाय-हाय करके रह जाता है। जो सत्य समस्त विश्व-ब्रह्माण्डका अमर उत्स है, जिसके आधारपर यह सम्पूर्ण सत्ता है, उस अमृतयोनि ऋतुके साथ साधारण मनुष्यकी राजनीति, अर्थनीति, न्याय और शासनकी व्यवस्थाका सामञ्जस्य खोज निकालना दुष्कर व्यापार माना जाता है। प्रायः ही इन्हे मायामूलक, जडधर्मी या बाह्यविकार मानकर शाश्वत सत्यसे इनका विरोध दिखाया जाता है। सारे ससारमे इन विषयोंको बडे सत्यसे भिन्न समझा गया है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि ससारके और किसीने बडे सत्यके साथ 'अमृतयोनि ऋतु' के साथ इन मानवीय स्वार्थोंके जटिल जालका सामञ्जस्य ढूँढा ही नहीं, ससार विपुल है, काल अनन्त है, सब हमें मालूम ही कहाँ है? पर महात्माजीने केवल वाणीसे नहीं, अपने सम्पूर्ण जीवनसे यह दिखा दिया है कि मनुष्यके छोटे स्वार्थोंका द्वन्द्व बडे सत्यका विरोधी नही है। इन छोटे स्वार्थोंको व्याप्त करके, इनको अपना अंग बनाकर ही हृदय-स्थित महासत्य विराज रहा है। इनके भीतरसे वह सेतु तैयार किया जा सकता है जो मनुष्यको मनुष्यसे विच्छिन्न होनेसे बचाये। छोटे स्वार्थ निश्चय ही मनुष्यको भिन्न-भिन्न दलोंमे टुकडे-टुकडे कर रहे है, परन्तु यदि मनुष्य चाहे तो ऐसा महासेतु निर्माण कर सकता है, जिससे समस्त विच्छिन्नताका अन्तराल भर जाय। महात्माजीने उस महान् सेतुके निर्माता सत्यको देखा था और धर्म, अर्थ और व्यवहारको एक करनेमे सफलता प्राप्त की थी। यद्यपि वे अब मर्त्य कायामें नहीं रहे पर उनकी मृत्युके अवसरपर विरोधी समझे जानेवाले विभिन्न दलोंके हृदयमे जो आलोडन हुआ है, उससे आशा होती है कि विच्छिन्नताएँ दूर होगी और 'अमृतयोनि' महासत्यके द्वारा छोटी समझी जानेवाली सकीर्णता और सीमाओंके बीच सेतुका निर्माण सम्भव होगा। शास्त्रने जिस बातकी घोषणा

आजसे सैकड़ों वर्ष पहले की थी, महात्माजीने अपने जीवनसे उसकी स्पष्ट व्याख्या कर दी है। ऐसा होता कि यह हिंसासे क्लान्त और संकीर्णताओंसे उद्भ्रान्त जगत् उस महान् सेतुके निर्माताको हृदयमें देख सकता!

यस्तनोति सतां सेतुमृतेनामृतयोनिना।
धर्मार्थव्यवहाराङ्गैस्तस्मै सत्यात्मने नमः ॥

०

# ठाकुरजीकी बटोर

[ इस गाँवमें हिन्दुओंके सौ घर हैं, मुसल्मानोंके पन्द्रह। धनी-मानी हिन्दू ही हैं, गरीब कहाने योग्य मुसलमान ही। फिर भी गाँवके ठाकुर-बारी और मस्जिदमें बड़ा अन्तर है। मस्जिद जगमगायी रहती है, ठाकुर-बारीमें भूत रेंगते रहते हैं। मैं मस्जिदको भी खुदाका 'अपना' घर नहीं मानता और ठाकुर-बारीको भी ठाकुरजीका एकमात्र मन्दिर नहीं समझता। इस बार तीन वर्षपर घर लौटा तो मालूम हुआ, एक साधु ठाकुरजीकी पूजा सालभरसे कर रहे हैं, पर दोनों शाम भोजन कर सकनेभरका अन्न उन्हें नहीं मिल पाता। एक दिन जब मेरे एक ग्रेजुएट मित्र साधुको साथ लेकर मेरे पास आये और ठाकुरबारीकी दुरवस्थाका सजीव वर्णन किया तो मैं उनकी प्रस्तावित सभामें, जहाँ ठाकुरजीके राग भोगकी व्यवस्था करनेका विचार होनेवाला था, उपस्थित रहने और यथासम्भव सहायता देनेके लिए प्रतीज्ञा-बद्ध हो गया। स्थानीय भाषामें इसी प्रस्तावित सभाका नाम रखा गया 'ठाकुरजीकी बटोर।' ]

तीन बार घण्टा-ध्वनिके साथ विज्ञापन करने और अनेक सज्जनोंको अनेक बार व्यक्तिगत रूपसे अनुरोध करनेपर भी जब सभा-स्थलपर कुछ बच्चोंके सिवा और कोई नहीं आया तो मैं कुछ उद्विग्न हो आया। मैं सोचने लगा, लोग ठाकुरजीके प्रति इतने उदासीन क्यों हैं? हिन्दुओंमें धर्म-भावना क्या लुप्त हो गयी है? मैंने कल्पनाके नेत्रोंसे देखा कि जिस देवताके मन्दिरके सामने बैठा हुआ हूँ उसकी छत्रछाया तीन हजार वर्षोंसे कोटि-कोटि नर नारियोंको शान्ति-दान कर रही है। सिन्धुउपत्यका-मेंके किसी अर्ध देवत्व-प्राप्त अनार्य वीरने या उत्तरी प्रान्तोंके उपास्य किसी बाल-देवताने युग-प्रतिष्ठित भागवत धर्ममें परम दैवतका स्थान प्राप्त किया। तबसे सैकड़ों वर्वर अनार्य जातियाँ उसके पावन नामसे उसी

प्रकार हत-दर्प होकर शान्त जीवन बिताने लगी जिस प्रकार मन्त्रौषधिके प्रयोगसे उपगत-ज्वर महासर्प। मैंने मानो स्पष्ट ही देखा, भारतवर्षके उत्तरी-पश्चिमी किनारेसे चीटियोंकी तरह सेनाएँ घुस रही हैं, लूट-पाट, नोच-खसोट, मार-पीट, कुछ भी उनके लिए असम्भव नहीं है। किसी सैन्यदलके रक्त-कलुष हाथोंमे तीक्ष्ण फलक कुन्त है, किसीके खर-धार तलवार। देखते-देखते समृद्धिशाली नगर जलाकर भस्म कर दिये जाते हैं, बच्चे माताओंकी गोदीसे छीनकर पटक दिये जाते है, तरुणियोंका दल ढोरोकी भाँति हाँककर ले जाया जा रहा है, सारा उत्तरी भारत क्षणभरके लिए श्मशानकी तरह हो जाता है। फिर मैंने देखा, यही जातियाँ यहीं बस जाती है और पचास वर्ष बाद अपने सिक्केपर अपनेको परम भागवत कहनेमे गर्व अनुभव करती है! इतना शीघ्र इतना विकट परिवर्तन! सचमुच उस देवताके सामर्थ्यका अन्दाजा लगाना मुश्किल है, जिसने एक नहीं, दो नहीं, बीसियो आर्येतर बर्बर जातियोको आचार-निष्ठ, शान्त भक्त बन दिया। भागवतका श्लोक मन ही मन गुनगुनाते हुए मैंने उस महावीर्य देवताको मन ही मन प्रणाम किया।

"किरात-हूणान्ध्र-पुलिन्द-पुक्कसा-
आभीर-कंकाः यवनाः खसादयाः ;
येऽन्येऽपि पापास्तदपाश्रयाश्रयात्
शुद्ध्यंति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।

मैं सोचता ही गया आज हम बौद्ध संस्कृतिकी सम्पूर्ण जानकारीके लिए तिब्बत, चीन, जापान, स्याम आदि देशोंकी ओर टकटकी बाँधे हैं, एक दिन ऐसा भी था जब कि पश्चिमी प्रान्तोंमे गांधार, पारस्य, शक-स्थान, इसी महावीर्य देवताके नाम और महिमाका कीर्तन होता था, भावावेशमे लोग दरविगलित नेत्रोंसे महाविष्णुका स्मरण करते थे वह दिन आज बीत गया है। पश्चिममे एक स्वतःसम्बुद्ध धर्म-भावनाका अवतार हुआ जिसके एक हाथमे दृढ-मुष्टि कठोर कृपाण थी, और दूसरेमे समानताके आश्वासनका अमृत वरदान। उसका प्राणदेवता अन्तर्मुख

था पर वह अपनी परिधिपर अक्लान्त भावसे चक्कर मार रहा था। उसने किसीसे समझौता नहीं किया, किसीको मित्र नहीं माना, जो सामने आया उसीको ललकारा, जिधर लपका उधर ही काल-चक्र घूम पड़ा। वह इसलाम था। इसी इसलामने पश्चिममे इस महावीर्य देवताको उखाड़ फेंका। विजयगर्वसे स्फीत-वक्ष इसलाम निर्भीक भावसे आगे बढ़ता गया, जिसने उसे आत्म-समर्पण किया वही उसके रगमें रँग गया, अरबसे लेकर गाधारतक एक ही विजय ध्वजा बारम्बार प्रकम्पित होकर धरित्रीका हृदय कम्पित करने लगी। आज हम उस कुचली हुई संस्कृतिके लिए इन देशोंकी ओर ताकनेकी कुछ आवश्यकता ही नहीं समझते।

हाँ, जिस मन्दिरके सामने बैठा हुआ मैं उसके उपासकोंकी प्रतीक्षामे समय बिता रहा हूँ वह उसी महावीर्य किन्तु पराजित देवताका प्रतीक है। उसके उपासक एकाधिक बार कुचले गये है, लूटे गये हैं, नोचे गये हैं, और तंग किये गये हैं। वे थके हुए, निर्वीर्य, निष्पेषित उपासक हैं। उपासकके तेजसे ही उपास्य तेजस्वी होता है। देवताका यह प्रतीक भी तेजोहीन, वीर्यहीन और निष्प्राण है।

इसी समय मैंने देखा, हमारी आशा-लताको लहलहाते हुए तीन वृद्ध हिन्दू सभास्थलमे उपस्थित हुए। उन्होंने माथेकी पगड़ी उतारी और अपना अनाडम्बर प्रणिपात ठाकुरजीको निवेदित किया। मन ही मन मैं सोचने लगा, आज भी करोड़ो हिन्दू इसी प्रकार अनाडम्बर भावसे गम्भीर विश्वासके साथ ठाकुरजीको प्रणाम करके शान्ति पाते हैं। कौन कहता है कि वह महावीर्य देवता तेजोहत हो गया है। विजयस्फीत इसलाम उसको कुचल नहीं सकता। आज गाधार मुसलमान हो गया है, उसे इसलामका अमृत वरदान प्राप्त हो गया है। तो क्या हुआ? इसलामके आनेके पहले विद्या और ज्ञानका महापीठ गाधार आज मुसलमान होकर बदल गया है। पाणिनि और यास्ककी सन्तान आज भारतवर्षमे हींग बेचती फिरती है। इसलामका इससे भयङ्कर पराजय और क्या हो सकता है? वैदिक ऋचाओंके बनानेवाले ऋषियोंकी सन्तानका इससे अधिक पतन

क्या हो सकता है ? मुझे ऐसा जान पड़ने लगा कि पाणिनि और यास्क, चरक और सुश्रुत; पतञ्जलि और व्यास स्वर्गमे अत्यन्त उदास बैठे है। भ्रूकुटियाँ किञ्चित् कुञ्चित हो गयी है, विशाल ललाटपर चिन्ताकी रेखाएँ स्पष्ट दिख रही हैं, ऑखे छलछला आयी है हाय, इसलाम, तुम कब देख सकोगे ?

मुझे ऐसा लगा, इसलामने मेरी बात सुन ली है। उसके हाथ तलवारकी मूठपर ठीक ही बैठे है, मूर्ति अत्यन्त उग्र है पर क्रूर नही। मुझे उस मूर्तिमे वीरताका तेज दिखा, देरतक उसपर ऑख ठहर नही सकती। इसलामने शान्त गम्भीर स्वरमे कहा 'तुम ठीक कहते हो, पर तुम्हारे लगाये हुए अभियोगकी मुझे बिलकुल परवाह नही। मैं संस्कृति फैलाने नहीं आया, मैं कुफ्र तोड़ने आया हूॅ। हजारोको दास बनाकर, लाखोको दलित और अस्पृश्य बनाकर जिस संस्कृतिका जन्म होता है वहॉ कुफ्रका प्राबल्य होता है। मैं उसे साफ करने आया हूॅ। इस असम व्यवस्थाके साथ मेरा समझौता नहीं हो सकता। जिस सैकड़ो कच्चे पक्के रंगके बेमेल पटको तुम कलाका श्रेष्ठ निदर्शन मानते हो, उसे मैं भद्दे दागोंका एक हास्यास्पद प्रदर्शन समझता हूॅ; मै धरतीको एक पक्के रंगमे रॅगी देखना चाहता हूॅ, भले ही वह रंग नीला हो। आज इसलामकी ध्वजासे धरती कॉप रही है, क्योंकि उसमे भीरुता है, उसमे भेद-भाव है, उसमें भ्रान्ति और त्रुटि है। इसलामका विजयतूर्य इस भीरुता, इस भेद-भाव और भ्रान्ति त्रुटिको दूर करके ही चुप होगा। समझौता करना डरपोकोका काम है, इसलाम डरपोक नही है, वह मरना भी जानता है और मारना भी जानता है। संस्कृतिके विनाशकी आशंकासे पद-पदपर संत्रस्त बुद्धिमान कहे जानेवाले लोग कायर हैं।

मैंने जरा विस्मय और आशंकाके साथ जवाब दिया संसारको एक रंगमें रँगनेका प्रयत्न क्या मनुष्यताके वैचित्र्यपूर्ण विकासमें बाधा पहुॅचाना नहीं है ? चमेलीको गुलाब बनानेका प्रयत्न या चमेली और गुलाब दोनोको कुछ एक विचित्र-सा एकरंगा फूल बनानेका प्रयत्न क्या श्रेयस्कर है ?

यह तो स्वयं ही एक भयकर कुफ्र है। इसलामने गरजकर जवाब दिया। शक्तिहीन ऐसी बातें कहा करते है, निर्वीर्य ऐसी बातें सुना करते हैं। तुममें मेरे कथनका सत्य अर्थ ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं है, उसे धैर्यके साथ समझ सकनेका साहस नहीं है। उपमाओं और रूपकोंका सहारा लेकर प्रकृत अर्थको विकृत करना दुनियाके बुद्धिमान कहे जानेवाले लोगोंका एक व्यवसाय है। तुमने मेरी सीधी-सी बातका विकृत अर्थ लगाया है। मैं कभी नहीं कहता कि गुलाब और चमेलीको एक कर दिया जाय। मैं कहता हूँ गुलाब और चमेली हो या आम और धतूरे, सबको एक ही समान खुला आसमान, एक ही समान खाद और पानीकी सुविधा, एक ही समान यत्न और उपचार प्राप्त होने चाहिये। इसलामकी उग्र मूर्तिपर जरा-सा हास्य दिखाई पड़ा, वह मानो अवहेलनाके साथ बड़ी संस्कृतियोंका मजाक उड़ाना चाहता था। मैंने फिर बुद्धिका आश्रय लेते हुए पूछा ऐसे भी तो पौधे हो सकते हैं जो गुलाब और चमेलीके अनुकूल खाद पाकर ही मुरझा जायँ? कुछ पौधे पानीसे बढ़ते हैं, कुछ पानीसे ही मर जाते है। उनका क्या उपाय होगा? इसलामने इस बार कड़ककर जवाब दिया मर जायँ तो मर जाने दो, मुझे परवा नहीं। जो तीन लोकसे न्यारे हैं, उनका न रहना ही अच्छा है। उनके रहनेसे बाकी दुनियाको कष्ट होगा। और देखो, तुम अधिक तर्क न करो। यह शक्तिहीनका लक्षण है। इस वज्रमुष्टि महाकृपाणको देखो। इसलाम इसपर ही पूर्ण विश्वास करता है। यही भगवान्का वरदान है, मनुष्यताका रक्षक है, इसलाम अपने कृपाणपर कभी सन्देह नहीं करता। यह कहकर एक अजब मस्तीके साथ मुस्कराता हुआ इसलाम ऊपरकी ओर उठा, मानो वह जगतकी सारी जड़ता, समस्त अन्धकार, सारे जंजालको विध्वस्त कर सकनेके महाव्रतमें अपने आपके सामने किसी दूसरेको नहीं मानना चाहता, मानो उसकी सफलता निश्चित है, मानो वह अद्वितीय कर्मठ योद्धा है।

( २ )

संस्कृति क्या है? मैं जरा उद्विग्न भावसे सोचने लगा। मुझे एक बार

याद आये वैदिक युगके कर्मकाण्ड-पटु ऋत्विजोंके दल, जो प्रत्येक कुश और पल्लवके स्थान, पात्र, और विधानके विचारमें गम्भीर भावसे सतर्क थे, फिर याद आयी उपनिषित्-कालीन ऋषियोंकी, जो बड़ी गम्भीरताके साथ मौन भावसे चिन्तन कर रहे थे कि क्या होगी वह चीज जिसे पाकर हम अमृत नहीं हो सकते? फिर याद आये काषाय-धारी बौद्ध भिक्षु, जो 'बहु जन हिताय, बहुजन सुखाय' घर-बार छोड़कर, उत्तुंग शैल-शिखर और भीमकाय महासागर लाँघ रहे थे, और अन्तमें याद आयीं, उज्जयिनीके सौध-गवाक्षोंसे लीला-कटाक्ष-क्षेपिणी पौर-विलासिनियाँ। देखते-देखते मेरी कल्पनाने मध्ययुगकी आतङ्कग्रस्त हिन्दू संस्कृतिको सामने खड़ा कर दिया—निराभूषणा, सकुचिता, अवमानिता, विक्षुब्धा! उसमें कर्मकाण्ड-कालकी सजीवता नहीं थी, उपनिषत्कालकी स्वतन्त्र चिन्ता नहीं थी, बौद्ध-कालकी दुर्वार करुणा-भावना नहीं थी, काव्य-कालकी सुखमय विलास-सज्जा नहीं थी। इसलामके आक्रमणसे उसका तेज म्लान हो गया था, दर्प हत हो गया था पर वह हार माननेको तैयार नहीं थी। वह कुचली हुई वन्य वीरुधकी भाँति म्लान होकर भी सजीव थी, फिरसे पनप उठनेके लिए सचेष्ट थी, निरुपाय होकर वह जिधर सुविधा पाती उसी तरफ आश्रयको लपक पड़ती। इसी समय दक्षिणी आसमानसे कई तेजःपुञ्ज ज्वलत ज्योतियाँ उत्तरकी ओर बड़े वेगसे दौड़ती हुई नजर आयीं। दिशाएँ तिमिराच्छन्न थीं, आसमान धूलसे भरा हुआ था, धरित्री रक्तसे तर थी! दक्षिण आकाशसे आयी हुई इन ज्योतियोंने कोई बाधा नहीं मानी, किसीकी परवा न की। वे बढ़ती ही गयीं। अचानक प्रकाशकी किरणोंमें स्पष्ट मालूम हुआ, इस कुचली हुई संस्कृति-लताको एक सहारा मिला है। वह सहारा था वैष्णव धर्म भक्ति मतवाद। इसने इस लताको केवल आश्रय नहीं दिया, रसकी धारासार वर्षासे उसे लहलहा दिया; पत्र और पुष्पकी नूतन समृद्धिसे देखनेवालोंकी आँखें निहाल हो गयीं। मैं जिस देवताके मन्दिरके सामने बैठा हुआ हूँ, वह उसी आश्चर्य-जनक भक्ति मतवादका उपाश्रय है। कौन कहता है यह पराजित देवताका प्रतीक

है ? यह आश्चर्योका खजाना, सच्चा तिलस्म और अचिन्तनीय जादूकी लकड़ी है।

मैंने साफ देखा मुर्शिदाबादकी सड़कोंपर मुसलमान वंशोद्भूत साधक हरिदास भावावेशमे हरिनाम संकीर्तन करते जा रहे है और जल्लाद उनपर अविश्रान्त भावसे दण्ड प्रहार करते जा रहे है, चेहरेपर जरा भी शिकन नही पड़ती, शान्त और मोहक तेज बढ़ता ही जा रहा है मै स्तब्ध निर्वाक् ! मैंने देखा मेवाड़के राजवंशकी शोभा और शान मीराबाई दर-विगलित नयन-कम्पमान कण्ठस्वर और खिन्न गात्रसे गोपाललालके विरहमे नृत्य कर रही हैं राज-परिचारकने जहरका प्याला दिया है, वे अजब लापरवाहीसे पी रही है मैं रुद्ध-श्वास, हत-चेष्ट ! मैंने और भी देखा, बंदा वीर दिल्ली नगरीमे बंदी होकर बैठा है; आँखोके सामने सात सौ प्राण-प्रिय साथी देखते-देखते तलवारके घाट उतार दिये जाते हैं। जल्लाद बंदाकी गोदमे उसका कोमल बच्चा डालता है; आज्ञा मिलती है, इसे अपने हाथो मार डालो। बन्दा कृपाण उठाता है। पिता-पुत्र साथ ही बोल उठते हैं "वाह गुरु जी !" और कृपाण उस कोमल कलेवरको कदली स्तम्भकी भाँति विदीर्ण कर देता है मै विचलित, अश्रु-अन्ध, विक्षुब्ध !! कहाँसे आयी इतनी शक्ति ? ठाकुर, तुम धन्य हो !

मेरे सामने अचानक प्रकाशका एक महासमुद्र दिखाई दिया, देखते-देखते उस प्रकाशने एक निश्चित रूप ग्रहण किया, एक त्रिभंगी मूर्ति, माथेपर मोर-पंख, हाथमें वंशी और लकुट, कटिमे पीताम्बर, वक्षःस्थलपर वैजयन्तीकी माला, कन्धेपर कामरी। जीमें आया मध्ययुगके कविके कण्ठमे कण्ठ मिलाकर चिल्ला उठूँ

'या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुरको तजि डारो'।

ठीक इसी समय मेरी चिन्ताको आहत करते हुए कुछ भले आदमी सभा-स्थलपर उपस्थित हुए। समय बहुत निकल गया था। जितने लोग आ गये थे उन्हीके साथ प्रस्तावित विषयको बिना भूमिकाके ही उठा दिया गया। ठाकुरजीके राग-भोगकी व्यवस्थाके साथ ही साथ सारे गाँवके

छोटे-मोटे झगड़ोका विचार आरम्भ हुआ। बहस द्रौपदीका चीर हो उठी। महज सात रुपये माहवारका प्रबन्ध करना था, मैंने उत्तेजनमें अपनी शक्तिके बाहर कुछ अधिक भार उठानेका सकल्प करके वृद्ध सज्जनोंके चित्तको शायद कुछ आघात पहुँचाया, पर कुछ फल नहीं हुआ। मै फिर एक बार उद्विग्न हो उठा। कुछ समझमे नहीं आया कि मध्य-युगकी महिमा-शालिनी सस्कृतिका उपाश्रय यह महावीर्य देवता आज इतना उपेक्षित क्यो है? मेरे सामने कुछ ही क्षण पहले जो तेजःपुञ्ज दिखाई पड़ा था, वह धीरे-धीरे धूमिल होने लगा। मैने समझा, यह भी मेरा बौद्धिक विकार था, वास्तवमे न मध्ययुगकी कोई सस्कृति ही महत्व-पूर्ण थी और न उसका आश्रय यह देवता ही। अचानक तर्क और बहसके भीतरसे एक प्रकाश दिखाई पड़ा। मै चौंक उठा, उत्तेजित हो गया और क्षण भरके लिए हतबुद्धि हो रहा।

बात यह हुई। सभामें एक पण्डितजी बैठे थे। इन्हे हम लोगोने बड़े आग्रहसे बुलाया था। मनोनीत सभापतिकी अनुपस्थितिमे उन्हीके सभापति होनेकी बात थी। इन पण्डितजीको अपनी शास्त्र-निष्ठापर अभिमान था। साधारण मनुष्यके लिए यह समझना बड़ा कठिन है कि कब पण्डितका शास्त्र उसकी बुद्धिको दबा देता है और कब उसकी बुद्धि शास्त्रको। सभामे उन्होंने मुझे और मेरे मित्रको चुनौती-सी देते हुए कहा कि ठाकुरजीकी पूजा अबतक शास्त्र-निषिद्ध विधिसे होती रही है। जो साधु इस समय पूजा कर रहे हैं, वे ब्राह्मण नहीं हैं और शास्त्रके मतसे ठाकुर उसी जातिके होकर पूजा ग्रहण करते हैं, जिस जातिमे पुजारीका जन्म हुआ रहता है। इसके पूर्ववर्ती पुजारी भी अब्राह्मण थे। पिछले तीन वर्षोंसे ठाकुरजी अब्राह्मण होकर ही पूजा ग्रहण कर रहे है। इसीलिए यह अत्यन्त स्पष्ट बात है कि ब्राह्मण ऐसे ठाकुरजीको पूज्य नहीं समझ सकता। ब्राह्मण धर्मका यथोचित पालन कठिन व्रत है।

पण्डितजीने अपने वक्तव्यको और भी स्पष्ट करते हुए बताया कि अनधिकारीकी पूजासे गाँवका अमगल हो रहा है। इसलिए पहले

अब्राह्मण साधुको स्थानच्युत किया जाय, फिर राग-भोगकी व्यवस्था बादमें होती रहेगी। मेरा नाम पुकारकर उन्होंने इस विषयपर मेरी स्पष्ट सम्मति चाही।

क्षणभरमें मेरे सामने मध्ययुगकी भूयोभूयः पद-ध्वस्त भारतीय संस्कृतिकी जादू-भरी मूर्ति खेल गयी। वह ब्राह्मण-संस्कृति नहीं थी, श्रमण संस्कृति नहीं थी, राजन्य संस्कृति नहीं थी, शास्त्रीय संस्कृति भी नहीं थी। वह सम्पूर्ण हिन्दू जातिकी एककेन्द्रा संस्कृति थी अपने-आपसे परिपूर्ण। तेजोमयी, जीवन्त! ये वृद्ध सज्जन जिनके ललाट-पट्टपर रामानुजी सम्प्रदायका विशाल तिलक अंकित है, जो पण्डितजीकी हाँमें हाँ मिला रहे है, आज भूल ही गये हैं और शायद उन्हें कभी जाननेका मौका ही नहीं मिला कि रामानुजके दादा गुरुओंकी परम्पराके सभी अलवार भक्त अब्राह्मण ही नहीं थे, शूद्रसे भी निम्न कुलमें अवतरित हुए थे। महाप्रभु वल्लभाचार्यने अपने शूद्र शिष्य कृष्णदास अधिकारी (अष्टछापके एक कवि) को श्रीनाथजीके मन्दिरका प्रधान अधिकारी बनाया था। महाप्रभुके गोलोकवासके अनन्तर एक बार उन्होंने महाप्रभुके एकमात्र पुत्र श्री गोकुलनाथ गोसाईंको भी मन्दिरमें जाना निषिद्ध कर दिया था। पण्डितजी अब्राह्मणीभूत ठाकुरका चरणोदक लेनेमें हिचकते हैं, गौडीय वैष्णव सम्प्रदायके प्राणप्रतिष्ठाता महाप्रभु चैतन्यदेवने मुसलमान भक्त हरिदासका चरणोदक हठके साथ छककर पिया था। लेकिन मारिये गोली इन ऐतिहासिक घटनाओंको। गोप कुलमें पालित और क्षत्रिय वंशमें अवतीर्ण अखण्डानन्द विग्रह भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र क्या ऋषि-मुनियोंसे भरी सभामें पूजाके पात्र नहीं समझे गये?

मैं सोचमें पड़ गया। इस सभामें जो अब्राह्मण कुलोत्पन्न सज्जन बैठे हैं उनके पास क्या आत्मसम्मान नामकी कोई चीज नहीं है? वे इस कथनका विरोध क्यों नहीं करते? और इस सभामें जो ब्राह्मण सज्जन बैठे हैं उनमें क्या लोककल्याणकी भावनाका कुछ भी अवशेष नहीं रह गया? वही क्यों नहीं इस बातका प्रतिवाद कर रहे हैं? क्यों पहले दलवाले भीरु

हैं, कायर हैं, डरपोक हैं और क्यों दूसरे दलवाले हठी हैं, अभिमानी हैं, रूढ़ि-प्रिय हैं ? मैंने उत्तेजित भावसे कहा 'जो ठाकुर जाति-विशेषकी पूजा ग्रहण करके ही पवित्र रह सकते हैं, जो दूसरी जातिकी पूजा ग्रहण करके आग्राह्य-चरणोदक हो जाते हैं, वे मेरी पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। मेरे भगवान हीन और पतितोंके भगवान हैं, जाति और वर्णसे परेके भगवान् हैं, धर्म और सम्प्रदायके ऊपरके भगवान हैं। वे सबकी पूजा ग्रहण कर सकते हैं, और पूजा ग्रहण करके आब्राह्मण-चाण्डाल सबको पूज्य बना सकते हैं।' मेरी बात अभी समाप्त भी नहीं हो पायी थी कि मेरे मित्रने मुझे बीचहीमें रोका। उन्होंने ओरेटरकी भाषा और भाष्कारके लहजेमें कहा कि वे मेरी बातसे सोलह आने सहमत हैं, पर ऐसी बात ऐसे समयमें नहीं कहनी चाहिये। वे शंकित हो रहे थे कि उनकी परिश्रम-पूर्वक बुलायी हुई सभा कहीं व्यर्थतामें पर्यवसित न हो जाय। मेरी उत्तेजना उनकी आशंकाका प्रधान कारण थी। लेकिन मुझे इसलामकी बात याद आ रही थी डरपोक ही समझौता किया करते हैं।

( २ )

मेरे मित्र मुझे समझा रहे थे ( क्योंकि भरी सभामें नासमझीका कार्य एक मात्र मैंने ही किया था ! ) और मैं अपनी सहज सहचरी कल्पनाके साथ ऊपर उठने लगा। मैं सभा-स्थलसे कुछ ऊपर उठा, ठाकुरजीके मन्दिरके ऊपर गया, उनकी निष्कम्प ध्वजासे भी ऊपर उठा उठते-उठते मैं अखिल आकाशका प्रत्येक स्तर लाँघ गया। अब मैं ऐसी जगह आ गया जहाँसे दुनियाका कोई रहस्य दिखनेसे बाकी नहीं था। मैंने दक्षिणकी ओर देखा। सूची-भेद्य निविड़ अन्धकारके साथ चिताकी आग जूझ रही थी, उसी प्रकाशमें कलकल-निनादिनी नदी चाँदीकी लकीर-सी चमक रही थी, सामने दूरतक फैले हुए सैकत-राशिपर केवल कंकाल और नर-मुण्ड बिखरे पड़े थे। चिताके पास एक काली-सी मूर्ति बैठी थी, शायद वह चिताका अधिकारी चाण्डाल था। इसी समय मेरे आश्चर्यको शतगुण वृद्धि करते हुए एक चारुदर्शन महात्मा चिताकी ओर भागते हुए दिखाई

दिये। घने, काले, घुँघराले बाल अस्त-व्यस्त थे, पर शोभा उनसे चुई-सी पड़ती थी; विशाल भालपट्टपर रामानुजी तिलक विराजमान था, पवित्रता उसमे अपनी छाया देख रही थी; कटि देश और स्कन्ध देश पीत पट्टाम्बरसे विभूषित थे; मुखमण्डलके चारो ओर प्रकाशकी किरणे छिटक रही थी; मनोहर मुख देखकर ऑखे धन्य हो जाती थीं। महात्मा अचानक आकर चाण्डालके चरणोसे लिपट गये। चाण्डाल चिल्ला उठा 'प्रभो, पमिरको और भी अपराधी बना रहे हो? क्या करते हो देवता? छोड़ो, छोड़ो, मैं पापी, मै चाण्डाल, मुझे रौरव नरकमें न फेको!'

महात्माने कसकर चरण पकड़ लिया। उसी अवस्थामे बोले 'शान्त हो जाओ। मेरे नारायण, नष्ट हो जाने दो मेरी सारी वासना, मेरा सारा अभिमान इस पावन तीर्थमें। मैं उस मठका प्रधान हूँ। तीन दिन पहले तुम भगवानका दर्शन करने गये थे, मेरे शिष्योने तुम्हारा अपमान किया था। तबसे भगवान् रूठ गये हैं। तीन दिनसे मैं भूखा-प्यासा हूँ। मेरे ठाकुरने मेरा अन्न खाना छोड़ दिया है। आज वे आये थे, चेहरा उनका उदास था, ऑखें उनकी डबडबायी हुई थीं, उत्तरीय उनका अश्रु सिक्त था, गला उनका भरा हुआ। मैंने रोते हुए पूछा मेरे ठाकुर, मेरे प्यारे, तुम्हे हो क्या गया है? भर्रायी हुई आवाजमे उन्होंने गरजकर कहा रामानन्द, मैंने तुम्हारा मठ छोड दिया है, तुम्हारे शिष्योंने मेरे भक्तका अपमान किया है। मैं अब यहॉ नहीं आ सकता। भीत भावसे मैंने पूछा तुम अब कहॉ रहोगे मेरे ठाकुर? भगवान्ने जल्द गम्भीर स्वरमें कहा जहॉ मेरे भक्त रहते हैं। वह देखो, उस श्मशानमें वही मेरा भक्त चिता जला रहा है। तुम उसकी कृपाके बिना मुझे नहीं पा सकते। यह कहकर वे चले गये और मै दौड़ा तुम्हारे पास आया। 'मेरा शास्त्राभिमान आज धूलमे लोट रहा है, मेरा वर्ण और आश्रमका अभिमान आज अस्त हो गया है, तुम भक्त हो, तुम नारायणके रूप हो, मेरे ऊपर कृपा करो। आज्ञा दो, मै क्या सेवा कर सकता हूँ।'

चाण्डाल भक्तने गद्गद् कण्ठसे कहा 'प्रभो, मैं क्या कृपा कर

सकता हूँ। भगवान् अगर मुझे कुछ इसी प्रकारकी अनधिकार चर्चा करनेको कहते हैं, तो उठो प्रभो, मैं आज्ञा देता हूँ, स्नान करके मुझे अपना शिष्य बना लो, वह रास्ता दिखा दो जिससे मैं अभिमानका समुद्र तैर सकूँ, भक्तिकी नौका पा सकूँ।' रामानन्दने आज्ञापालन किया, और दिग्वधुओंने मौन शंख-नाद। मैं चिन्तातुर हो उठा। यह इतिहास है या मनोवाञ्छित स्वप्न ?

मैंने देखा, मेरे गाँवके मन्दिरसे भी ठाकुरजी निकले जा रहे हैं। उनकी मुखाकृति गम्भीर है। जिस चटुल-चपल आनन्दमयी मूर्तिकी कल्पना मैंने आजतक की है, उसका कोई चिह्न उस चेहरेपर नहीं है। सारा आसमान अणु-परमाणुओंके साथ 'धिक-धिक' कर उठा। मेरे सिवा यह धिक्कार-वाक्य और कोई दूसरा नहीं सुन सका। लज्जा और ग्लानिसे मेरा चेहरा काला पड़ गया। मेरे ग्रेजुएट मित्र मुझे अब भी समझा रहे थे। मैं शायद कुछ समझने योग्य हो चला था। अचानक उनके मुँहसे एक युक्तिकी अवतारणा होते देख मेरी भावुकताको एक और दचका लगा। उन्होंने मेरे वाक्यका यह अर्थ लगाया जो मेरा लक्ष्य न होते हुए भी सही था कि मैं मुसलमानोंको भी पूजनका अधिकारी मान रहा हूँ।

हाय हिन्दू और हाय मुसलमान! आठ सौ वर्षके निरन्तर संघर्षके बाद, एक दूसरेसे इतने नजदीक रहकर भी, तुमने अपनी एक संस्कृति न बनायी! अभी कुछ ही क्षण पहले सभामें बैठे हुए एक क्षत्रिय अध्यापकको अभिवादन करते हुए एक वैश्य शिष्यने कहा था 'शलाम, बाबू साहब!' शास्त्र-निष्ठ पण्डितजीने दपटकर बताया 'यह मुसलमानी कायदा है।' क्षत्रिय अध्यापकने क्षमायाचना-सी करते हुए कहा 'हम लोगोंमे बुरा रिवाज चल गया है।' लेकिन यह और इसी तरहके दो-चार और बुरे रिवाज ही तो हिन्दू और मुसलमान नामक दो विशाल शिलापटोंको जोड़नेके गोंद थे। आज वह भी टूटने जा रहे है, वर्जन परायण हिन्दू-भाव सबको धो-पोंछ डालना चाहता है, अभिमानी मुसलमान-भाव कुछ

भी ग्रहण करना नहीं चाहता।

मुझे इस समय ऐसा मालूम हुआ कि पश्चिमी महासमुद्रकी भयङ्कर लहरोंसे दो-चार श्वेतांग नाविक जूझते हुए चले आ रहे हैं। सामने और पीछे जहाँतक दृष्टि जाती है, केवल पानी ही पानी दिख रहा है, केवल लहरोंका फूत्कार, केवल लोल समुद्रका गर्जन! उनके चेहरे शान्त हैं, मस्तिष्क धीर। इस शान्तिको देखकर मैं डर गया। यह वह शान्ति थी जिसके पेटमें सारी दुनियाका तूफान था। मैं साँस रोककर उनके असम साहस और धैर्यको देखता रह गया निर्वाक्, निश्चेष्ट, निस्तब्ध!! अन्तमें ये नाविक भारतीय किनारेपर पहुँचे। फिर टिड्डियोंके दलकी तरह शत-शत नौकाएँ महासमुद्रके लोल वक्षपर छोड़ दी गयीं। भारतीय अन्तरीप इस कोनेसे उस कोनेतक इन विदेशियोंसे भर गया। मौका देखकर इन्होंने दरारपर आघात किया, पहलेसे ही अलग हिन्दू और मुसल्मान दूरसे दूरतर होते गये। मौका देखकर विदेशी राजा बन बैठे और अपूर्व अध्यवसाय और लगनके साथ दोनों जातियोंको समझनेकी कोशिश करते गये। जितना भी जिन्होंने समझा उतना ही भेदभावको उत्तेजित किया। आज हम प्रत्येक बातको हिन्दू दृष्टिकोण और मुसल्मान दृष्टिकोणसे देखनेके आदी हो गये हैं, मानों ऐसा कोई दृष्टिकोण ही नहीं है जिससे हिन्दू और मुसलमान साथ ही देख सकें। मैंने फिर एक बार दीर्घ स्वासके साथ मन ही मन कहा हाय रे हिन्दू और हाय रे मुसलमान!!

अन्तमें, काफी बहस-मुबाहिसेके बाद, सभा दूसरे दिनके लिए स्थगित हुई। मैं अब भी कल्पनाके मनोगामी रथपर आसीन था। मेरे बगलमें एक तरुण पंडित मित्र बैठे थे। वे दूसरे गाँवसे आये थे। एकमात्र वे ही शुरूसे आखीरतक निर्लिप्त भावसे बैठे रहे। उन्होंने सब सुना पर कहीं भी विचलित नहीं हुए, कहीं भी चचल नहीं हुए। मुझे झकझोरते हुए उन्होंने कहा 'चलिये, आजकी सभा समाप्त हुई। आप बहुत उत्तेजित हो जाते हैं।' मैंने कहा—'ठीक है।'

पर क्या ठीक था ? मेरे गाँवकी यह ठाकुरबारी कुछ ऐसी महत्वपूर्ण नही है कि इसकी अव्यवस्थाके कारण विराट हिन्दू समाज अणुमात्र भी लज्जा अनुभव करे। और यह सभा ? यह तो ततोधिक नगण्य है। फिर क्या कारण है कि इस मामूली-सी सभाने मेरे मनमें भारतीय महामानव समुद्रके प्रत्येक तरंग-विस्फूर्जनकी स्मृति उत्पन्न करा दी ? शायद यह हिन्दू समाजकी जीवनी शक्तिका सबूत हो, यह इस विराट महामानव समुद्रकी सजीवताका प्रमाण हो। असल बात यह है कि इस महामानव समुद्रका कोई तरंग स्वतंत्र नही है। इस मामूली-सी ठाकुरबारीकी समस्या भी सारे विश्वकी समस्याके साथ जटिल भावसे उलझी हुई है, उसको विच्छिन्न भावसे सुलझाया नही जा सकता। सभाएँ होती रहेंगी, राग-भोगकी व्यवस्था होगी भी, नही भी होगी, पर समस्या ज्योंकी त्यों रहेगी अगर उसे विराट पैमानेपर नही सोचा गया। सारे गाँवके मनुष्य सारे जगत्‌के साथ विचित्र भावसे जड़ित हैं, उनपर विश्वकी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक सभी प्रकारकी गुरुतर समस्याओंका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दबाव पड़ रहा है। वे ठाकुरजीसे उदासीन होनेको बाध्य है। सामने जो मस्जिद जगमगायी हुई है, वह भी समान रूपसे उपेक्षित है। आजसे दस वर्ष पहले वह इतनी जगमगायी नहीं थी। उसकी आजकी जगमगाहट उसी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दबावका परिणाम है जिसके कारण यह ठाकुरबारी उपेक्षित है। एक ही किरण दो रंगके शीशोसे प्रतिफलित होकर दो तरहकी दिख रही है। यही ठीक था। मैं उठ पड़ा। उठते-उठते मैंने फिर सोचा लेकिन क्या कारण है कि एक ही आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याके दबावसे वह मुसलमानी मस्जिद जगमगा उठी है और यह हिन्दू मन्दिर उपेक्षित है ? क्या मुसलमानी धर्म ज्यादा सजीव है ? शायद नहीं। क्या हिन्दू धर्म ज्यादा मुर्दा है ? शायद नहीं। असल कारण यह है कि भारतवर्षके मुसल्मान अल्पसंख्यक हैं, वे हिन्दू धर्मके उत्कर्षसे भीत है। दूसरी तरफ हिन्दू धर्म जरूरतसे ज्यादा आत्म-विश्वासी हो गया है। मुसलमान अपनी बची-खुची सारी शक्ति

समेटकर मुसल्मानियतका प्रदर्शन कर रहे हैं। यह अवस्था बहुत दिनो-तक नहीं चलनेकी। वह आगन्तुक उत्साह भी समाप्त हो जायगा। और यह अत्यधिक आत्मबोध-मूलक शैथिल्य तो समाप्त हो ही चला है। जब दोनों समाप्त हो जायँगे तभी रास्ता सूझेगा, तभी शान्ति आयेगी। तथास्तु।

# संस्कृतियोंका संगम

अपने प्राचीन ग्रन्थोंके अध्ययनसे हम ऐसी अनेक जातियोंका परिचय पाते हैं जिनमे आचार-विचार-गत पार्थक्य बहुत अधिक मात्रामे वर्तमान था। ये जातियाँ सभ्यताके नाना स्तरोपर स्थित थी और उनमे अकारण और सकारण बराबर युद्ध होते रहते थे। अधिकाश युद्ध विभिन्न विश्वासो और सस्कारोके सघर्षके कारण हो जाते थे। भौगोलिक-प्रत्नतत्त्वके पण्डितोका अनुमान है कि इस देशका मध्य और दक्षिणी भाग पुराना है, हिमालय और राजपूताना अपेक्षाकृत नये भूखण्ड हैं जिनमे एक भूगर्भके आकस्मिक उत्पातसे समुद्रमेसे उन्नत हो आया और दूसरा प्रकृतिके सहज क्रममे सूखकर मरुभूमि बन गया है। इसपरसे यह समझा जा सकता है कि यदि इस देशमे प्रथम मनुष्यका वास कही हुआ होगा तो वह विन्ध्य-पर्वतके दक्षिणमे ही कहीं रहा होगा। यह भूभाग कभी आस्ट्रेलियाके विशाल द्वीपके साथ स्थल मार्गसे सम्बद्ध था और निकोबार और मलकाके द्वीप भी इस भूभागके ही सलग्न अग थे। इस भूखण्डमे कभी मुण्डा या कोल श्रेणीकी जातियोकी बस्ती थी। ये जातियाँ अब भी वर्तमान है और अपनी पुरानी परम्पराको कथचित् जिला रखनेमे समर्थ है। साधारणतः यह समझा जाता रहा है कि ये जातियाँ भारतीय सभ्यताके केन्द्रो, सचरण मार्गों और तीर्थस्थलोंसे दूर रहनेके कारण इस सभ्यताको बहुत कम 'ससर्ग-दुष्ट' बना सकी हैं। पर आधुनिक शोधोसे बिल्कुल उल्टे तथ्योका आविष्कार हुआ है। प्रो० सिलवां लेवीने अग-वग, कामरूप-तामरूप, कलिङ्ग-त्रिलिङ्ग आदि देशवाचक और स्थानवाचक नामोके अध्ययनसे यह दिखा दिया है कि इन जातियोकी परम्परा एकदम उपेक्षणीय नही। लेवीके शिष्य प्रो० प्युलुस्कीने मोनख्मेर श्रेणीकी भाषाओंके साथ इन जातियोकी भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन कर एकदम नयी जान-

कारियोंका द्वार उद्घाटन कर दिया है। यह समझना गलत है कि ये जातियाँ हमारी सभ्यतामे कुछ भी नही दे सकी हैं। अनेक वृक्षोंके नाम, खेतीवाडीके औजारो और अन्य पारिभाषिक शब्दोंके नाम इनकी भाषाओंसे आर्य भाषाओंमे आये है। वृक्षपूजा इन जातियोंकी देन हो सकती है। मैने अन्यत्र दिखाया है कि लिंगपूजा और लागलधर और लांगूलधर देवताकी पूजा भी इन जातियोसे हिन्दू धर्ममे आयी होगी। ताम्बूल भी इसी श्रेणीकी भाषाके किसी शब्दका सास्कृतिक रूप है। ताम्बूलको परवर्ती हिन्दू धर्ममे और शिष्टाचारमे जो महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है वह सर्व-विदित है। उडीसा और बगालके अनेक धर्ममतोपर और परवर्ती कबीर पथपर भी इनके प्रभावका प्रमाण उपलब्ध हुआ है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि अनेक हिन्दू जातियाँ भी मूलतः इसी श्रेणीकी होगी। हिन्दू समाजके निचले स्तरमे खेतीवाडी करनेवाली बहुत-सी जातियाँ इनका आर्यभाषी सस्करण हैं। इस प्रकार इन जातियोंके अध्ययनसे हमारे धर्मजीवनकी परम्पराके अध्ययनमे बहुत सहायता मिल सकती है पर दुर्भाग्यवश इनका जितना ठोस अध्ययन होना चाहिये उतना हुआ नहीं है।

विन्ध्यपर्वतको पार करके दक्षिण जानेवाले सर्वप्रथम मुनि अगस्त्य समझे जाते हैं। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि श्री रामचन्द्रने दक्षिणको विजय किया और उन्होने ही उस भूखण्डमें आर्य प्रभावका विस्तार किया। यह बात केवल प्राचीन परम्पराकी आधुनिक काल्पनिक व्याख्या मात्र भी हो सकती है और आंशिक रूपमे सत्य भी हो सकती है। श्री रामचन्द्रको दक्षिणकी कई ऐसी जातियोका सहयोग मिला था जिन्हे कृषिकर्मका भी अभ्यास नहीं था और केवल वृक्षोंकी डाल और पहाडोके टुकडे अर्थात् पत्थरके अस्त्रोंका ही व्यवहार जानती थी। इन्हे 'वानर' कहा गया है। रामके पास लोहेके बाण थे। आधुनिक शोधोने इस विचित्र रहस्यका उद्घाटन किया है कि उत्तर और दक्षिणके प्रागैतिहासिक युगके इतिहासमे एक बड़ा भारी अन्तर यह है कि उत्तरमे प्रस्तर युग और

लौह युगके बीचमे ताम्रयुग आता है जब कि दक्षिणमें प्रस्तर युगके बाद एकदम लौह-युग आ जाता है। छोटा नागपुरकी खोदाइयोंसे इसी तथ्यकी पुष्टि होती है। विद्वानोंने अनुमानसे कहा है कि द्रविड जातियोंने मुंडा या कोल जातियोपर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। सन् १९२४ ई० मे एक महत्वपूर्ण बातका पता लगा। डा० राखालदास बनर्जीने मोहन-जो-दडोमे और प० दयाराम साहानीने हरप्पामें धरतीके नीचे गड़ी हुई एक अत्यन्त समृद्ध आर्यपूर्व सभ्यताका पता लगाया। ऐसे भवनोंका आविष्कार हुआ जिनमे बहुत-सी महत्वपूर्ण वस्तुएँ उपलब्ध हुई। इनमे कुछ ऐसी मुद्राएँ ( सील ) मिलीं जिनकी लिपि अभीतक पढ़ी नहीं जा सकी। उनमें साँडोकी उत्कीर्ण मूर्तियाँ भी मिलीं। ये सारी चीजे खीष्ट-पूर्व तृतीय सहस्राब्दकमे उपलब्ध सुमेरियन वस्तुओसे बहुत मिलती थीं। जब सर जान मार्शलने इस अनुसन्धानके परिणामस्वरूप प्राप्त वस्तुओंका लेखाजोखा प्रकाशित किया तो पण्डितोकी दुनिया आश्चर्यसे स्तब्ध रह गयी। पण्डितोंने नाना प्रकारके अनुमान भिड़ाये। बलूचिस्तानमे ब्राहुई नामक द्रविड़ भाषाका सन्धान पहले ही पाया जा चुका था। एक पूरी सुमेरद्राविड़ सभ्यताका अनुमान किया गया। इन समानताओके आधारपर कुछ बहुत अधिक तो नहीं कहा जा सकता, पर इतना तो निश्चित है कि ईसामसीहके हजारो वर्ष पहले द्रविड़ सभ्यता-का मेसोपोटामिया, मिस्र और बैबिलोनिया आदिकी सभ्यतासे बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। इधर हालमे कुछ इस प्रकारका विश्वास किया जाने लगा है कि सिन्ध उपत्यकाके लोग ही सामुद्रिक मार्गसे सुमेरकी ओर गये थे। सुमेरियन लोगोंकी एक पौराणिक गाथा यह है कि 'औनस' (Oannes) नामक मत्स्य रूपधारी पुरुष ईरानकी खाड़ी तैरकर आया था और सुमेरियन लोगोंको ज्ञानका उपदेश दिया था। इससे यह अनुमान पुष्ट होता है कि सिन्धु-उपत्यकाके लोगोंने ही सभ्यताका सन्देश सुमेरवासियों-को सुनाया था। जो हो, यहाँ प्रकृत विषय यह है कि आर्योंके आनेके पहले इस देशमे एक अत्यन्त समृद्ध द्रविड सभ्यता थी। यह कहना कि

श्री रामचन्द्रने समूचे दक्षिणको सभ्य बनाया, विशेष युक्तिसंगत नहीं जान पडता क्योंकि रावण और उसके राज्यके लोग रामायणकी अपनी गवाही-पर ही कम समृद्ध नहीं जान पड़ते। यह हो सकता है लोहेका परिचय द्रविडोंको आर्योंसे हुआ हो, पर यह इतनेसे अधिक और कुछ भी नहीं सिद्ध करता कि दक्षिणकी पर्याप्त समृद्ध सभ्यतामें लोहेका अभाव था। आर्योंकेपास लोहेके अस्त्र थे जिससे वे विजयी हुए। एक दूसरी बात भी उनके विजयका कारण रही होगी घोड़े।

यदि १९२४ ई० में संयोगसे मोहन-जो-दडो और हरप्पाकी लुप्त निधियोंका अन्वेषण न हो गया होता तो आज हम उतना भी नहीं सोच सकते जितना इस समय सोच सकते हैं। इस घटनाका एक महत्त्व-पूर्ण पहलू यह भी है कि पुरातत्त्वके प्रमाणोंके अभावका अर्थ किसी विचारधारा या तथ्यका अभाव नहीं है। बहुत सम्भव है कि धरतीके किसी-न-किसी कोनेमें तथ्य मुँह छिपाये पड़ा हो। हो सकता है कि तथ्यका सन्धान बतानेवाला पुरातत्त्वका चिह्न एकदम मिट ही गया हो। ऐसी अवस्थामें परम्परा हमको बहुत-कुछ सहायता दे सकती है। परम्परया हम सुनते आते हैं कि रावण बहुत बड़ा शैव साधक था, वह वेदोंका व्याख्याता था, वह शिल्प-शाखाका उन्नायक भी था और उसको आयुर्वेदिक आचार्य होनेका गौरव भी प्राप्त है। इन बातोंके सबूतमें कोई ऐतिहासिक समझा जानेवाला प्रमाण नहीं मिला है। रावण-लिखित बतायी जानेवाली आयुर्वेदकी पुस्तक बहुत आधुनिक है और जिन शिल्प-ग्रन्थोंमें रावण प्रवर्तित शिल्प-शाखाका उल्लेख है वे भी बहुत आधुनिक हैं, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये बातें एकदम गप हैं और इनको एकदम अस्वीकार कर देना चाहिये। ऐति-हासिक प्रमाणसे समर्थित परम्परा बहुत बहुमूल्य होगी, इसमें सन्देह नहीं, पर असमर्थित परम्परा एकदम त्याज्य नहीं मानी जानी चाहिये।

द्रविड जाति कौन है? शुरू शुरूमें आर्येतर जातियोंको द्रविड कहने-का एक फैशन था। इनमें रावण भी था, बाणासुर भी था, प्रह्लाद और

वालि आदि भी थे। परन्तु अब यह बात स्पष्ट हुई कि तथाकथित द्रविड़ जाति कोई एक मानवमण्डली नहीं है। द्रविड़ भाषाओंको बोलनेवाली सभी जातियोंको भी द्रविड़ नही कहा जा सकता। रावणका जन्म जिस जातिमें हुआ था उसका आधुनिक नाम क्या है? यह भी अनिश्चित ही है। कुछ लोगोंने गोंड जातिको उस जातिका आधुनिक जीवितरूप बताया है। गोंड राजाओंकी प्रशस्तियोंसे भी पता चला है कि वे अपनेको 'पुलस्त्य-वंशी' समझते थे। गोंड शब्दके साथ संस्कृतके 'कौणप' 'कोण्डप' (राक्षस) आदि शब्दोंकी समानतासे भी इस तथ्यको पुष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है। पौराणिक परम्परा इस विषयमें बहुत उलझी हुई है। रावणको पुलस्त्य मुनिकी सन्तान भी बताया गया है, यक्षपति कुवेरसे उसका रिश्ता भी जोड़ा गया है और उसे स्पष्ट रूपमें 'ब्राह्मण' भी कहा गया है। उसके आचारमें शिवकी पूजा भी है, वेदका पाठ भी है और मद्य-मांसका सेवन भी है।

पंडितोंमें यह विश्वास जमता जा रहा है कि वृक्षपूजा, नर-बलि, जीव-बलि, मद्यमांसकी बलि, प्रेतपूजा आदि आचारोंके मूल उत्स मुण्डा या कोल जातियाँ हैं और मूर्तिपूजा, ध्यान, जप, गुरु-पूजा, अवतारवाद आदिके मूल प्रेरणा स्रोत ऐसी जातियाँ है जो इन कोल, मुण्डा आदि श्रेणीकी जातियोंसे अधिक सभ्य और समृद्ध थीं। एक शब्दमें इनका नाम 'द्रविड़' रख दिया गया है।

परवर्ती कालका वह तन्त्रवाद जिसमें स्त्री-तत्वकी प्रधानता थी और शरीरको ही समस्त सिद्धियोंका श्रेष्ठ साधन माना जाता था यक्ष, गन्धर्व आदि किरात जातियोंकी देन रहा होगा। उत्तरसे ही कापालिक और वाममार्गोंका आगमन हुआ होगा। हमने अन्यत्र इस विषयकी विशेष छान-बीन की है। बंगालमें इन लोगोंके साथ द्रविड़ जातियोंके मिश्रणसे एक नयी जातिका जन्म हुआ है। बादमें चलकर आर्यरक्तका भी इस जातिमें मिश्रण हुआ है।

परन्तु इन सबसे अधिक प्रभावशाली जाति आर्य हैं जिनका वैदिक

साहित्य इस देशकी सभी जातियोंपर जबर्दस्त प्रभाव विस्तार कर सका है। वे आर्य लोग किस ओरसे भारतवर्षकी मध्यभूमिकी ओर आये यह सर्व-सम्मत बात है। उत्तर पश्चिमकी ओरसे ही वे लोग मध्य देशमे आये। पर इस ओर आनेके पहले वे कहाँ रहते थे यह बात बहुत उलझी हुई है। कुछ थोड़ेसे तथ्योंका पता लगा है। इनकी व्याख्या बहुत भाँतिकी होनेके कारण ये तत्व स्वयं ही अस्पष्ट हो गये है। कुछ यूरोपियन पण्डितोंने एक बार यह बतानेका यत्न किया था कि आर्य लोग यूरोपसे इधर आये थे पर आरमीनियन भाषापर इसका कोई चिह्न न मिलनेसे यह सोचा गया कि यूरोपसे ईरानके रास्ते वे उस भूभागको छोड़कर किसी प्रकार भारत नहीं आ सकते थे। सन् १९०९ ई० मे हिटाइटकी राजधानी बोगाज केउईकी खुदाईसे यह साबित हुआ कि हिटाइट भाषाका कोई-न-कोई सम्बन्ध आर्य-भाषाओंसे है। यद्यपि विद्वानोंमे इस बातको लेकर मतभेद ही बना रहा है कि हिटाइट भाषा आर्य-भाषा ही है या आर्य भाषा द्वारा प्रभावित है। परन्तु इससे भी अधिक मनोरंजक आविष्कार यह हुआ है कि यूफ्रेटसके उपरले हिस्सेके मित्तानी राज्यने १४०० ई० पू० मे हिटाइटके राज्यसे सन्धि करते समय उन देवताओंके नाम साक्षीरूपमे लिये हैं जो भारतीय वैदिक साहित्यके विद्यार्थीके निकट अत्यधिक परि-चित हैं। ये देवता हैं मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य। निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि इस भूभागमे आर्योंका आगमन किसी समय हुआ होगा। स्टेन कोनोके इस अनुमानका अभी भी युक्तिसंगत खण्डन नहीं उपस्थित किया जा सका कि इन देवताओंकी उपासना करनेवाला सम्प्र-दाय भारतवर्षसे कैपेडोशियाके किनारे-किनारे दूरतक फैल गया था। ऐसा जान पड़ता है कि मध्य-एशियाके किसी स्थानसे आर्य नाना दिशाओंमे फैले थे। इनका एक हिस्सा ईरान होकर भारत आया था और दूसरा खाल्डिया और एशिया माइनरकी ओर चला गया था। जो हो, इन आर्योंका प्रभाव भारतवर्षकी विभिन्न जातियोंपर बहुत अधिक पड़ा। हमारा उच्चतर दर्शन, धर्मतत्व और अध्यात्म इन आर्योंके साहित्य-

से निरन्तर प्रेरणा पाता रहा है।

परन्तु जैसा कि रवीन्द्रनाथने कहा है, यह भारतवर्ष महामानव-समुद्र है। केवल आर्य, द्रविड, कोल और मुण्डा तथा किरात जातियाँ ही इसमे नहीं आयी हैं। कितनी ही ऐसी जातियाँ यहाँ आयी है जिन्हे निश्चित रूपसे किसी खास श्रेणीमे नही रखा जा सकता। फिर उत्तर पश्चिमसे नाना जातियाँ राजनीतिक और आर्थिक कारणोसे आती रही हैं। उन सबके सम्मिलित प्रयत्नसे वह महिमाशालिनी संस्कृति उत्पन्न हुई है जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं।

आज केवल अनुमानके बलपर ही कहा जा सकता है कि अमुक प्रकारका आचार आर्य है, अमुक प्रकारका विचार द्रविड़ है, पर इसमे सन्देह नहीं कि अनेक आर्य-अनार्य जातियोने इस देशके धर्मविश्वासको नाना भावसे समृद्ध किया है। आज भी उन जातियोंकी थोड़ी-बहुत परम्परा बच रही है। उनके अध्ययनसे हम निश्चित रूपसे इस नतीजेपर पहुँच सकते हैं कि हमारे धर्मविश्वासको सभी जातियोने किसी-न-किसी रूपमें प्रभावित अवश्य किया है।

# समालोचककी डाक

नौ बज गये हैं। विद्याभवनके एक कोनेमें समालोचक बैठा हुआ है। सामने पुराने बङ्गाक्षरोंमें लिखा हुआ तीन सौ वर्ष पुराना महाभारत और तञ्जोरसे भेजे हुए शीट्स पड़े हुए हैं। ताड़के पत्तोंमें न जाने कीड़ोंको क्या रस मिलता है, सारी प्रति चलनी-सी बना डाली है। समालोचक सावधानीसे एक-एक अक्षर मिला-मिलाकर पाठान्तर संग्रह करता जा रहा है। सावधानी इसलिए कि उसके बगलमें ही 'चेक' करनेवाले पण्डितका आसन है। उसे अपना सम्मान तो बचाना ही है। लेकिन समालोचकका चित्त चञ्चल है। लो, यह गल्ती हो गयी। पाठान्तर शायद छूट गया। पीछेसे आवाज आयी 'पण्डितजी!' यही समालोचकका नाम है, उपाधि है, गुण है, दोष है।

हरिहर शान्तिनिकेतनका डाकिया है, मस्त, हँसमुख और शालीन। समालोचक उसकी ओर भयसे, आशासे, आशङ्कासे और उत्सुकतासे देखता है।

'मनीआर्डर है क्या?'

यह नहीं कि समालोचकके पास रोज ही मनीआर्डर आते हों। न आते हों सो भी नहीं। परन्तु

> "ते कि सदा सब दिन मिलहिं?
> समय-समय अनुकूल!"

फिर भी वह डाकियेसे रोज पूछता है और डाकिया भी इस विनोदसे परिचित है। मुसकुराकर जवाब देता है 'कोई, टाका कोथाय?' मालूम हुआ कि रजिस्टर्ड बुकपोस्ट हैं और चिट्ठियाँ हैं और मुफ्त ही मिल जानेवाली कुछ पत्रिकाएँ हैं।

चिट्ठियोंमें ७५ फी सदी साहित्यिक होती हैं, कभी-कभी बधाई, कभी-कभी डाँट, कभी-कभी अनुनय, कभी-कभी प्रलोभन। समालोचक एक-एक करके उन्हें पढ़ता है। उत्फुल्ल होता है और आगे बढ़ता है। महाभारतकी पोथी खुली हुई है। वह रजिस्टर्ड बुकपोस्टोंको देखकर सोचता है कि बादमें देख लेगा। पैकेट पड़े हुए हैं। खूब सँवरकर आये हैं, रेशमी धागोंसे बँधे हैं, सुन्दर अक्षरोंमें पता लिखा हुआ है।

ये निश्चय ही कविताकी पुस्तकें हैं। ऊपरवाली इतनी सावधानीसे बाँधी हुई है कि कविके Conscious artist होनेमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। समालोचक लिफाफा देखकर खतका मजमून भाँपने लगता है। लाल और नीले रेशमी फीतोंसे बँधे हुए पैकेटमें किसी युवक कविकी प्रेम-कथा बँधी हुई है। उसकी कल्पना-जगत्‌की प्रेयसी निश्चय ही अप-टु-डेट् फैशनकी परिपाटीविहित सज्जासे सज्जित होगी, उसका मुख चाँद-सा गोल और आँखें आमकी फाँक-सी बड़ी होंगी। काजल वह जरूर लगाती होगी, केशमें एकाध फूल निश्चय ही रहते होंगे वे काल्पनिक रजनी-गन्धाके भी हो सकते हैं, जूही-चमेलीके भी हो सकते हैं और पुस्तकका शिरोभाग जो साफ खुला हुआ दीख रहा है और उस सुन्दर बँधाईके भीतरसे लापरवाहीसे फटे हुए जो पन्ने दीख रहे हैं, वे इस बातके सबूत हैं कि उस कल्पित प्रेयसीके गुलाबी कपोलोंपर उसके अस्त-व्यस्त चिकुर भी हिल रहे होंगे। कविके प्रेममें उतावलापन नहीं है, धीरतासे भरी हुई व्याकुलता है यह बात तो सारा पैकेट ही कह रहा है। खोलकर देख ही क्यों न लिया जाय। पर अब भी महाभारतके पन्ने खुले हुए हैं। सम्हालकर बाँध नहीं दिये गये तो स्वतन्त्र होकर निकल पड़ेंगे। फिर उनको सकुशल फिरा ले आना असम्भव है। मगर समालोचक उस सफेद धागोंवाली पुस्तकको भी छोड़ना नहीं चाहता। इस कविकी प्रेयसी सुन्दर जरूर होगी, पर अप-टु-डेट भी होगी ऐसा नहीं कह सकते। प्रियकी ओर देखकर लजा जाती होगी, मुसकाती जरूर होगी पर प्रियको मालूम भी नहीं होने पाता होगा। जब वह झुँझलाकर उठ पड़ता होगा तो टप्-

टपू दो बड़ी-बड़ी बूँदे उसकी ऑखोंसे झड़ पड़ती होगी। कवि बेचैन हो जाता होगा, सोचने लगता होगा इन ऑसुओकी उपमा जगत्‌मे हैं ? कोई रूपक ? कोई उत्प्रेक्षा ? सारे पैकेटको देखकर यह कह सकना मुश्किल है कि कवि अपनी प्रेयसीको सजाकर देखनेमे आनन्द पाता है। निश्चय ही वह जितना प्रेम दान करता है उससे अधिक पानेकी आशा रखता है।

पहली पुस्तक अञ्चलजीकी मधूलिका है, दूसरी गिरीशजीका मन्दार। समालोचक अब पाठान्तर-संग्रह नहीं करेगा। वह अपने सौंपे हुए मजमून-को जॉचके ही कोई और काम करेगा। और प्रश्न-पत्रोको भी वह बादमे देख लेगा।

मधूलिका और मन्दार दोनो ही प्रेम-काव्य है। दोनो ही कल्पनाके खेतमे उपजे हैं; पर दोनोमें एक मौलिक अन्तर है। मधूलिकाके कविकी इच्छा केवल प्रेमी बननेकी है; पर मन्दारका कवि प्रेमी भी बनना चाहता है और प्रिय भी। इसीलिए एक प्रेम-पात्रकी ओरसे लापरवाह होनेके कारण अबाव भावसे अपना गान गाये जाता है, उसे अपनी मस्तीका ही भरोसा है, सुननेवालेने सुन लिया तो ठीक है, न सुना तो उसीका नुकसान है, कवि निश्चिन्त है

> अरे जरा सुन लो इनकी तृष्णातुर करुण कहानी ;
> फिर न मिलेंगे ये मस्ताने दीवाने दीवानी !

पर मन्दारका कवि केवल लालसाकी धारामें वह जाना नहीं चाहता। वह प्रतिदान भी चाहता है

> जीवनका आधार प्यार है, प्यार पिला दो प्यार।
> प्यार बिना मैं ठुकरा दूँगा सोनेका संसार॥

( २ )

प्रेमी कवियोके प्रसगमे समालोचकको बहुत दिन पहले मिली, किन्तु अबतक अनालोचित एक पुस्तकका स्मरण आता है। उसके एक बंगाली मित्रको उस कविकी मस्ती इतनी अच्छी लगी थी कि वे अर्थशास्त्रका

नोट लिखना छोड़कर काव्य-चर्चामे निमग्न हो गये थे। पुस्तक श्री भगवतीचरण वर्माका 'प्रेम-संगीत' है। अगर शुरूमे ही कविने हिन्दीके आलोचकोंको डॉट न दिया होता, तो इस आलोचकको भी इस पुस्तकके बारेमे कुछ कहना था। पर कविकी बातोंमे वह आ गया था। कौन जाने उसने कविको जैसा समझा है, वह कविका मनःपूत रूप न हो और कवि उसकी समझका प्रतिवाद कर बैठे। 'जीवित कवेराशयो न वक्तव्यः' यह पुराने दुनियादार आलोचकोंका सिद्धान्त था। वे कविताको भी समझते थे और दुनियादारीको भी। यह समालोचक इतना बहुज्ञ होनेका दावा नहीं रखता। उसे कहनेकी स्वाधीनता होती, तो कहता कि प्रेम-संगीतके कविकी मस्ती सचमुचकी मस्ती है। वह दुनियाके किसी पदार्थको स्थिर नहीं मानता, प्रेमको भी नहीं, घृणाको भी नहीं। इस क्षण-भंगुरताके अटूट प्रवाहमे वह केवल एक वस्तुको स्थिर समझता है जैसे नदीकी प्रत्येक चंचल बूँदोंके भीतरसे उसका प्रवाह अव्याहत रहता है, उसी प्रकार। यह वस्तु जीवन नहीं है, जैसा कि वह समझना चाहता है। यह वस्तु है उसका अपना व्यक्तित्व। अनन्त प्रवाहके भीतर बहती हुई भी उसकी सत्ता शाश्वत है। प्रेम-पात्र आते है और चले जाते है, कुछ हँस जाते है, कुछ हँसा जाते हैं। कुछ रो जाते है, कुछ रुला जाते है, और व्यक्तित्व आगे बढ़ता है

> है हमें बहानेको आयी यह रसकी एक हिलोर प्रिये !
> शाश्वत असीममे चलना है निज सीमाके उस ओर प्रिये !

इसीको वह जीवन कहता है। असलमे वह घटनाओंका प्रवाह है, जो उसको आगे ठेल देता है; सब कुछको भुलाकर भी, हटाकर भी वह अपनेको भुला नहीं सकता, सब कुछको मिटाकर भी वह अपनेको मिटा नहीं सकता -

> किस तरह मिटा दूँ आज हाय अपनेपनकी भी याद प्रिये !

और,

> मिट-मिटकर मैंने देखा है मिट जानेवाला प्यार यहाँ।

और,

**हम दीवानोंकी क्या हस्ती हैं आज यहाँ कल वहाँ चले !**
**मस्तीका आलम साथ चला हम धूल उड़ाते जहाँ चले !**
**सब कहते ही रह गये अरे तुम कैसे आये कहाँ चले ?**

अपने व्यक्तित्वके प्रति वह इतना सचेतन है कि वह प्रेमोन्मादकी अवस्थामें भी अपनेको नहीं भूल सकता, बल्कि उसका प्रियतम व्यक्ति भी उसकी सत्ताके प्रति उदासीनता दिखलावे, तो वह तुनक जा सकता है

**यह न समझना देवि की मुझमें निज ममत्वका ज्ञान नहीं !**

उसकी दृष्टिमें सब नश्वर हो सकते हैं, पर वह अविनश्वर है

**जग नश्वर है तुम नश्वर हो बस मैं हूँ केवल एक अमर !**

परन्तु समालोचकको अपना वक्तव्य कहनेका मौका नहीं मिला और पुस्तक पुरानी हो गयी ! आज 'मधूलिका' और 'मन्दारके' सम्बन्धमें विचार लिखते समय भी जब उसके दिमागमे बरबस उस पुस्तककी स्मृति उमड़ पड़ी, तो उसे अपनेको सम्भालना मुश्किल हो गया। वह सोचता है, पुस्तक क्या सचमुच पुरानी हो गयी ?

पाँच लम्बे-लम्बे महीने बीत गये हैं। कवियोंकी कई रचनाएँ आयी हैं। समालोचकने झूम-झूमकर पढ़ा है। प्रयागके श्री देवराजके प्रणय-गीतोंका रसास्वादन किया है। 'प्रणय-गीत' की प्रणयिनीके सौभाग्यकी दाद दी है, जिस "नवल सहचरीके लज्जित सुख-चन्द्रसे" कविकी कविता भी ईर्ष्या करती है, उसकी खुशामदके लिए उसने भी कविता देवीसे प्रार्थना की है कि

**छोड़ो आलि अधीर आज छोड़ो कविको[1]**
**कुछ घड़ियोंका विरह, कुपित होना नहीं;**
**आज किसीकी नव चितवनसे विद्ध हो**
**बँध जाने दो नवल प्रणयके पाशमें।**

१. मूलपाठ "मुझको" है। समालोचकने परिवर्तित करके ढिठाई की है। समालोचक

उसके हृदयने कहा है कि ये गान स्वर्गीय हैं, मनने कहा है कि मोहक हैं, बुद्धिने कहा कि जीवन-संघर्षकी प्रतिक्रिया हैं, स्वयं कविने कहा है कि "बढ़ते हुए सन्देहवाद और जड़वादके विरुद्ध एक धीमी आवाज" है। वह आगे बढ़ा है। दिल्लीके श्री नगेन्द्रजीकी 'वनवाला'-के सरस गानोंको गुनगुनाया है, कल्पनालोकमें घूमा है, वन और वन-वालाके कल्पना-मञ्जुल सौन्दर्यको मुग्धभावसे देखा है, और कविकी कविताके साथ ही वह भी "पागल-सा पढ़ता विश्व सुकविकी कविता" अपनी सौन्दर्य-विस्मारिणी बुद्धिपर तरस खाकर इस मधुर दृश्यको तद्गत-प्राण होकर देखता रहा है

**इन्दुवदनी वाल रजनी सुन्दरी**
**राजती थी मञ्जु मरकत पीठपर**
**शुभ्रवसना उडुगनोंकी अवलियाँ**
**चँवर चाँदीका डुलाती थीं विहँस।**
**वह चला संगीत मञ्जुल गगनमें**
**(सिहर उठती थी निशाकी किंकिणी)**
**विमल निर्झर ताल-सा देता हुआ**
**मुग्ध मोतीकी हँसी हँसने लगा।**

'वनवाला'का कवि निराला प्रेमी है। प्रेम उसकी दृष्टि है, द्रष्टव्य भी नहीं, द्रष्टा भी नहीं। इसीलिए उसकी दृष्टि संसारको इतना कोमल, इतना मञ्जुल देख सकी है। पर शायद कविको अब भी टकराना बाकी है। कहते हैं, प्रेम अन्धा होता है। 'वनवाला'के कविका प्रेम अन्धा नहीं है; पर श्री नगेन्द्रकी तरह वह 'क्रिटिक' नहीं है, इतना तो निश्चित है। संसारको युद्धस्थल कल्पना करके क्रिटिक लोग जिस मतवाद-महा-समरका मजा लिया करते है, वह 'वनवाला'में स्पष्ट नहीं हुआ है। कवि जितना ही सामंजस्यप्रवण होता है, क्रिटिक उतना ही विश्लेषणप्रवण। नगेन्द्र दोनों हैं। समालोचकने चाहा है कि इन दो विरुद्धाभासित रूपोंमें सामंजस्य खोज निकाले। पर यह क्या आसान काम है? वह फिर

कभी सोच देखेगा। वह और आगे बढ़ता है। लाहौरके श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'ने, जिनकी कई कहानियोंका आनन्द समालोचक पहले पा चुका है, कविताकी पुस्तक भी लिखी है। नाम है 'प्रात-प्रदीप'। कविवर श्री रामकुमार वर्माने देखा है कि "अश्ककी रचनाओंमें आँसूकी बूँदोंमें भी वाणी आ गयी है।" अश्कजी उर्दूसे शुरु करके हिन्दीके क्षेत्रमें आये हैं। उनकी भाषामें और भावमें वह प्रभाव वर्तमान है। आधुनिक प्रेम-कविताकी लचकीली कोमलता उसमें नहीं है। अत्यधिक अभ्यस्त भावकताका भी उसमें अभाव है, पर समालोचक इससे निराश होनेके बदले उत्साहित हुआ है। यहाँ उसे एक ऐसा भी आदमी मिला है, जो लापरवाहीसे अपनी बात अपने ढंगपर कह जाता है, जो संस्कृत और फारसीके गुरुचण्डाली योगसे घबराता नहीं

**हँस लेता हूँ यह भी सच है पर अदम्य अवसाद!**
**हो उठता है छूटे संयमसे सहसा आजाद!**

काव्यके एक पारखीने इन कविताओंमें शैलीकी तीव्रानुभूति देखी है; पर समालोचकको उसमें एक ही बात बार बार आकृष्ट करती रही है कविकी मस्ती, उसकी लापरवाही, उसकी साहसिकता। जीवनमें अनुभूत सत्यको कवि इसी गुणके कारण सहज भावसे, पाठकको बेहोश किये बिना ही, कह गया है

**पल ही भरकी एक भूलपर जीवन-भर अनुताप!**
**एक गयी-बीती आशाका करते रहना जाप!**
**नभमें नित प्रासाद बनाना**
**दिलकी दुनिया अलग बसाना**
**लोगोंमें उन्मत्त कहाना**
**सदा बनाते-ढाते रहना आशाका संसार!**
**समझाता हूँ अपने दिलको, माँग न पागल प्यार!**

अभी इस पुरअसर कवितामें समालोचक डूबा ही हुआ है कि डाकियेने फिर धावा बोल दिया है। अबकी बार पटनेके श्री आरसी-

प्रसादजीका 'कलापी' है। यह कवि भी कुछ वैसा ही मस्त जान पड़ा; पर इसे पाठकको मदमत्त बनानेमें कुछ मजा आता है। समालोचक बिना कसम खाये उसकी अज्ञात प्रेयसीके मदविह्वल सौन्दर्यकी मनोहारिताको अस्वीकार नहीं कर सकता

रजतके अश्रु
स्वर्णका हास
दिवामें दूर
स्वप्नमें पास !
अपरिचित-सी परिचित, सविलास
रूपश्री मलयज-वनका श्वास !
दृगोंमें कोमलाभ आकाश
रश्मि-सुकुमार अकूल विकास !

सचमुच ही यह कवि मस्त है। सौन्दर्यको देख लेनेपर यह बिना कहे रह नहीं सकता, भाषापर वह सवारी करता है। इस बातकी उसे बिलकुल परवाह नहीं कि उसके कहे हुए भावोंको लोग अनुकरण कह सकते हैं, अननुभूतिमूलक कह सकते हैं कल्पना-प्रसूत समझ सकते हैं। उसे अपनी कहनी है। कहे बिना उसे चैन नहीं। उपस्थापनमें अबाध प्रवाह है, भाषामें सहज सरकाव। जुहीकी कलीको देखकर वह एक सुरमें बोलता चला जायगा

एक कलिका वन छबीली विश्व-वनमें फूल,
सरस झोंके खा पवनके तू रही है झूल;
पँखड़ियाँ फूटीं नहीं, छूटे न तुतले बोल;
मृग-चरण-चापल्य शैशव-सुलभ कौतुकलोल
और, पायी वह न मादकतामयी मुसकान;
सुन सजनि, तू अधखिली नादान !

और इसी प्रकार बहुत-कुछ। समालोचक कविकी व्यासशैलीपर हैरान है, उसके भाव-सागरके उद्वेलनसे दंग ! पर उसे चिरकालतक

यह आनन्द लेनेका मौका कौन देता है। मेरठकी श्री होमवती देवीने 'अर्घ' नामक संग्रह पठाया है। समालोचकको साँस लेनेका अवसर मिला है। वहाँ उसे शायद प्रेमके सरस सरोवरका दर्शन होगा। यहाँ आकाक्षाएँ शान्त हैं; उन्मत्त भी नहीं, मृत भी नहीं।

**सखि, वह मुझको क्यों भरमाते ?**
**निष्ठुर अपने विस्तृत जगमें बरबस खींच मुझे उस मगमें**
**चिरपरिचित-सा पन्थ भुलाकर इधर-उधर भटकाते ॥**
**किससे क्या लेना-देना है, दूर मुझे जगसे रहना है**
**टिसते घावोंको मल-मलकर नाहक व्यथा बढ़ाते ॥**
**इनको सच मानूँ मैं सजनी ! या अलसायी-सी वह रजनी**
**जब प्राणोंके सूनेपनमें चुपके वह आ जाते ॥ सखि० ॥**

इस शान्त-स्निग्ध प्रेमके बाद समालोचक और कुछ नहीं पढ़ेगा।

(४)

प्रेमका यह बीहड अब भी पार नहीं हुआ। 'मधूलिका'के अपरिग्रहेप्सु प्रेमिक, 'मन्दार'के प्रिय वननेमें सयत्न प्रेमिक, 'वनवाला'के प्रेमकी आँखोसे देखनेवाले प्रेमिक, 'प्रात-प्रदीप' के अनुभवी और लापरवाह प्रेमिक, 'कलापी' के अज्ञात लोकके मादक और अज्ञेय प्रेमिक और 'अर्घ' के शान्ताकाक्ष प्रेमिककी चर्चा करनेके बाद कोई समालोचक विराम ग्रहण करनेकी सोच सकता है। केवल प्रेमकी बातोका कोई कहाँतक विवेचन करे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थितिके अनुसार प्रेमका दाँव-पेच बदलता रहता है। समालोचक विश्लेषण करके कहाँतक सिर खपावे। वह अबसे इस उत्तरदायित्वपूर्ण पदसे इस्तीफा दे देगा। कानपुरके एक साहित्यिकने उसे डाँटकर लिखा है कि उसने अमुक पुस्तककी झूठी प्रशसा लिखके उक्त साहित्यिकका डेढ़ रुपया बर्बाद कर दिया है। ना बाबा, यह समालोचक ऐसे टटेमें नहीं पडेगा। दुनिया अपने प्रेमका गान गावे और मुफ्तमे फटकार सुननी पडे इस समालोचकको ! ऐसे दुमदारसे तो लड्डूरे ही भले !

क्षणभर निराश भावसे आसमानकी ओर देखनेके बाद समालोचक फिर सँभल जाता है। उसका यौवनपरका अखण्ड विश्वास फिर लौट आता है। प्रेमका बीहड़! ठीक है, प्रेमके ये काव्य अनन्त शक्तिके प्रतीक हैं, जिसे मानव अपनी युवावस्थामें सञ्चित कर रहा है। प्रौढ़ होते ही जवानीका यह खेल काममें, कल्पना बुद्धिमें, कला उद्योगमें, आशावाद समत्ववादमें, साहस दूरदर्शितामें, उद्दामता मर्यादामें बदल जायँगे यह निश्चित है। ऐसा ही होता है। जहाँ ऐसा नहीं होता, वहीं सोचनेकी बात है। 'मधूलिका', 'मन्दार' और 'कलापी'में जो खेल है, जो कल्पना है, जो वाग्मिता है, 'प्रणय-गीत'में जो चिन्तनात्मक आशावाद है, 'वनवाला' में जो मंजुल कल्पना है; 'प्रात-प्रदीप'में जो साहस और स्पष्टता है, वह दुर्दमनीय युवाशक्तिका परिचायक है। वे भविष्यमें केवल कल्पनाके शून्यमें नहीं घूम सकेंगे। जब वे धरतीपर जमकर खड़े होंगे, जब वे समाजकी समस्याओंके आमने-सामने खड़े होंगे, तो समालोचकको कुछ भी पछताना नहीं पड़ेगा। उत्तरप्रदेशके एक अंग्रेजी दैनिकने मजाक किया है कि ५० फी सदी हिन्दी पुस्तकें कविताकी है, तो क्या उत्तरप्रदेश कवि हो जायगा? समालोचक इस सूचनासे उत्फुल्ल हुआ है। जिस देशके युवकोंमें कल्पना, आशावाद, साहस और उद्दामता है, उसी देशके युवक असम साहसिक कार्योंको कर सकते है। इन युवकोंको केवल इतना स्मरण रखना चाहिये कि कल्पना और आशावादिता साध्य नहीं, साधन हैं, प्रिय और प्रेयसी लक्ष्य नहीं, उपलक्ष्य हैं; क्रीड़ा और कला प्राप्य नहीं, प्रापक है।

समालोचकको अपनी डाकपर गर्व है।

# महिलाओंकी लिखी कहानियाँ

प्रचलित विश्वास यह है कि स्त्रीको स्त्री ही ठीक-ठीक समझ सकती है और वही उसको ठीक व्यक्त कर सकती है। इसके साथ जो अनुमान अपने आप उपस्थित होता है उसे प्रायः भुला दिया जाता है। वह अनुमान यह है कि पुरुषको पुरुष ही समझ सकता है और वही उसे व्यक्त कर सकता है। स्पष्ट ही यह अनुमान सत्यसे बहुत दूर है और इसीलिए उसकी अनुमापक प्रतिज्ञा भी उतनी ही असत्य है। यह विचार कि स्त्री ही स्त्रीको समझ सकती है और पुरुष स्त्रीको नहीं समझ सकता, किसी वहके दिमागकी कल्पना-मात्र है। वस्तुस्थिति कुछ और है। उसका कारण पुरुष और स्त्रीके सहयोगके विकाससे समझा जा सकता है।

कहते हैं सभ्यताका आरम्भ स्त्रीने किया था। वह प्रकृतिके नियमोंसे मजबूर थी, पुरुषकी भाँति वह उच्छृङ्खल शिकारीकी भाँति नहीं रह सकती थी। झोपड़ी उसने बनायी थी, अग्नि-संरक्षणका आविष्कार उसने किया था, कृषिका आरम्भ उसने किया था; पुरुष निरर्गल था, स्त्री सुशृङ्खल। पुरुषका पौरुष प्रतिद्वन्द्वीके पछाड़नेमें व्यक्त होता था। स्त्रीका स्त्रीत्व प्रतिवेशिनीकी सहायतामें। एक प्रतिद्वन्द्विताम‍े बढ़ा, दूसरी सहयोगितामें। स्त्री पुरुषको घरकी ओर खींचनेका प्रयत्न करती रही, पुरुष बन्धन तोड़कर भागनेका प्रयत्न करता रहा। सभ्यता बढ़ती गयी, स्त्री और पुरुषका सम्बन्ध ऐसा ही बना रहा। पुरुषने बड़े-बड़े धर्म-सम्प्रदाय खड़े किये भागनेके लिए। स्त्रीने सब चूर्ण-विचूर्णकर दिया माया से। पुरुषका सब कुछ प्रकट था, स्त्रीका सब कुछ रहस्यावृत्त। पुरुष जब उसकी ओर आकर्षित हुआ तब उसे गलत समझकर, जब उससे भागा तब भी गलत समझकर। उसे स्त्रीको गलत समझनेमें मजा आता रहा, अपनी भूलको सुधारनेकी उसने कभी कोशिश ही नहीं की। इसीलिए वह बराबर हारता

रहा । स्त्रीने उसे कभी गलत नहीं समझा । वह अपनी सच्ची परिस्थितिको छिपाये रही । वह अन्ततक रहस्य बनी रही । किसीने कहा है कि दुनियाका अन्तिम शास्त्र मानव-मनोविज्ञान होगा और उस शास्त्रकी अन्तिम समस्या स्त्री होगी । रहस्य बनी रहनेमें उसे भी कुछ आनन्द मिलता था । इसीलिए जीतती भी रही और कष्ट भी पाती रही । अचानक व्यावसायिक क्रान्ति हुई, कृषिमूलक सभ्यता पिछड़ गयी, परिवार और वर्गकी भावना ह्रास होने लगी, नगर स्फीत होने लगे और वैयक्तिक स्वाधीनता जोर मारने लगी । इस बार सत्यके अनुसन्धानकी आँधी बही । स्त्री रहस्य रहे, यह बात इस युगको पसन्द न आयी, न पुरुषको, न स्त्रीको । पुरुषने भी स्त्रीको समझने की कोशिश की और स्त्रीने भी इस कार्यमें उसे सहायता पहुँचायी और साहित्य नये सुरमें बजने लगा । पुरुषने भी स्त्रीको समझा पर वह अपने हजारों वर्षके संस्कारसे लाचार था । उसने कल्पनाका पुट लगा दिया । गलत समझनेमें उसे मजा आता था, हालाँकि समझनेमें उसने गलती नहीं की । स्त्री भी अपने संस्कारोंसे मजबूर थी, उसने अपनेको थोड़ा-सा रहस्यमें रखना उचित समझा, हालाँकि इस रहस्यको समझानेमें उसने हमेशा गलती की । इसलिए पुरुषका जब स्त्री-चित्रण पढ़ा जाय तो उसकी कल्पनात्मक प्रवृत्तिसे सदा सतर्क रहना चाहिये और स्त्रीका जब स्त्री-चित्रण पढ़ा जाय तो उसकी रहस्यात्मक प्रवृत्तिसे भी सावधान रहना चाहिये । यह गलत बात है कि स्त्रियाँ पुरुषको नहीं समझ सकतीं और पुरुष-स्त्रियोंको नहीं समझ सकते, पर यह और भी गलत बात है कि स्त्री वस्तुतः वैसी ही है जैसी स्त्रीके द्वारा चित्रित है, या वैसी नहीं है जैसी पुरुष-द्वारा कल्पित है ।

स्त्रीका हजारों वर्षका अनुभव है कि पुरुष उसे गलत समझता है, इसलिए साहित्यमें उसका प्रयत्न सदा स्त्रीकी वस्तुस्थितिको स्पष्ट करनेका होता है, पर वह स्त्रीको चूँकि अनजानमें कुछ अज्ञात रखना चाहती है, इसलिए स्वभावतः ही स्त्रीके प्रति होनेवाले अविचारोंके विषयमें उसका रुख अधिकतर शिकायतोंके रूपमें प्रकट होता है । कभी वह समाज-

व्यवस्थापर, कभी पुरुष जातिपर, कभी वाह्य वटनाओंपर दोषारोपण करती है। यह एक लक्ष्य करनेकी बात है कि स्त्रीका चित्रित दुःखित स्त्री-पात्र शायद ही कभी अपने अन्तरिक विकासके कारण दुःखी होता हो। उसके दुःखी होनेका कारण भीतर नहीं, बाहर हुआ करता है। अगर लेखिकाकी कल्पना किसी और समाज-व्यवस्थाका सर्जन कर सके तो निश्चित है कि स्त्री-पात्र कभी दुःखी न होगे।

वैयक्तिक स्वाधीनताके प्रवेशने स्त्री-साहित्यमे एक नया अध्याय जोडा है। अधिकाश स्त्री चरित्रका चित्रण दुःखीके रूपमे न होता यदि व्यक्तिवाद स्त्री लेखिकाओंका सर्वाधिक जबरदस्त सुर न होता। अधिकाश स्थलोपर जहाँ स्त्री-चरित्रके दुःखपूर्ण होनेका कारण समाज-व्यवस्था या पुरुषकी स्वार्थान्धता होती है वहाँ स्त्रीके भीतर वैयक्तिक स्वाधीनताका जबरदस्त प्रभाव होता है। पर इस विषयमे पुरुष लेखकोसे बहुत कुछ सीखना है। मनुष्यके दो प्रधान सस्कार है, व्यक्तिगत सुख-लिप्सा और सामाजिक सहयोग-भाव। यदि वन्यजन्तुओंकी भाँति पुरुष व्यक्तिगत रूपसे स्वच्छन्द होकर घूमता रहता तो निश्चय जीवनकी लडाईमे हार गया होता। वर्गरूपमे रहकर ही उसने ससारके हिंसक जन्तुओंसे मोर्चा लिया है और विजयी हुआ है। पुरुष लेखकमे जब वैयक्तिकताका जोर पूरी मात्रामे होता है तब वह दूसरी प्रवृत्तिको बुरी तरह मसल देता है, पर स्त्री सदा सयत रही है। स्त्री साहित्यका सबसे बडा दान आधुनिक साहित्यमें यही है। उसने वैयक्तिकताके मुँहजोर घोडेको सामाजिकताकी कठोर लगामसे सयत किया है। इन बातोंको ध्यानमें रखकर ही हम आगेकी विवेचनामे उतरे तो अच्छा रहे।

( २ )

श्रीमती शिवरानी देवीकी कौमुदीको छोड दिया जाय तो आलोच्य पुस्तकोंमेंसे अधिकाशकी कहानियोका मूल उपादान मध्यवर्गके हिन्दू-परिवारकी अशान्तिकर अवस्था है। कौमुदीमे भी यह बात है पर उसको हमने अलग इसलिए रखा है कि उसकी लेखिका इन बातोको छाँटते

समय ठीक वही बातें नहीं सोचती हुई जान पड़ती जो बाकी पुस्तकोंमें स्पष्ट हुई हैं। सास, जेठानी और पतिके अत्याचार, स्त्रीकी पराधीनता, उसे पढ़ने-लिखने या दूसरोंसे बात करनेमें बाधा इत्यादि बातें ही नाना भावों और नाना रूपोंमें कही गयी हैं। सुभद्रादेवीके 'बिखरे मोती' इस विषयमें सर्वप्रथम हैं। 'पिकनिक' और 'निसर्ग' में ये बातें कुछ गौण-स्थान अधिकार करती हैं। ऐसे प्रसंगोंपर सर्वत्र एक दुःख-पूर्ण स्वर कहानीका परिणाम होता है जो चरित्रके भीतरी विकाससे नहीं बल्कि सामाजिक बाह्य परिस्थितियोंके साथ दुःखी व्यक्तिके असामञ्जस्यके कारण होती है। अधिकतर लेखिकाओंकी सहानुभूति सदा वधुओंकी ओर रहती है, वह पति-पत्नीमें पत्नीकी ओर, सास बहूमें बहूकी ओर, जेठानी-देवरानीमें देवरानीकी ओर जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि लेखिकाओंका पक्षपात आधुनिकाओंके ऊपर है। इसका कारण उनके मनमेंका आदर्श-घटित द्वन्द्व है। वैयक्तिक स्वाधीनताके इस युगमें वैयक्तिकताका आदर्श अपेक्षा-कृत तरुण युवक-युवतियोंमें अधिक प्रतिष्ठित हुआ है। सुभद्रादेवीके चरित्रोंमें इस आदर्शकी जो रूप-प्राप्ति हुई है वह अच्छा उदाहरण हो सकती है, इसलिए उनके सम्बन्धमें अपनी बात कुछ विस्तारके साथ कहनेका प्रयत्न किया जाता है।

सुभद्राजीकी कहानियोंमेंसे अधिकांश जैसा कि ऊपर ही कहा गया है, बहुओंको विशेषकर शिक्षित बहुओंके दुःखपूर्ण जीवनको लेकर लिखी गयी है। निःसन्देह वे इसकी अधिकारिणी हैं। उन्होंने किताबी ज्ञानके आधारपर या सुनी-सुनायी बातोंको आश्रय करके कहानियाँ नहीं लिखीं वरन् अपने अनुभवोंको ही कहानियोंमें रूपान्तरित किया है। निस्सन्देह उनके स्त्री-चरित्रोंका चित्रण अत्यन्त मार्मिक और स्वाभाविक हुआ है फिर भी जो बात अत्यन्त स्पष्ट है वह यह है कि उनकी कहानियोंमें समाज-व्यवस्थाके प्रति एक नकारात्मक घृणा ही व्यक्त होती है। पाठक यह तो सोचता रहता है कि समाज युवतियोंके प्रति कितना निर्दय और कठोर है पर उनके चरित्रमें ऐसी भीतरी शक्ति या विद्रोह-भावना नहीं पायी

जाती जो समाजकी इस निर्दयतापूर्ण व्यवस्थाको अस्वीकार कर सके। उनकी पाठक-पाठिकाएँ इस कुचक्रसे छूटनेका कोई रास्ता नहीं पाती। इन कहानियोमे शायद ही कहीं चरित्रकी वह मानसिक दृढ़ता मिलती हो जो स्वेच्छा-पूर्वक समाजकी बलि वेदीपर बलि होनेका प्रतिवाद करे। इसके विरुद्ध उनके चरित्र अत्यन्त निरुपाय-से होकर समाजकी वह्नि-शिखामे अपनेको होम करके चुपकेसे दुनियाकी आँखोसे ओझल हो जाते हैं। स्पष्ट ही यह दोष है। परन्तु इस अवस्थाके साथ जब सचमुचकी परिस्थितिकी तुलना करते हैं तो स्वीकार करना पड़ता है कि अधिकाश घटनाएँ ऐसी ही हो रही हैं। सुभद्राजीकी कहानियोमे जो बात सबसे अधिक आकर्षक जान पड़ती है वह है उनकी सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि। अपने प्रिय पात्रोंके अन्तस्तलमें वे बड़ी आसानीसे पहुँच जाती है। सुभद्राजीके पात्रोकी सहज बुद्धि विहारकी अपेक्षा परिहारकी ओर, जूझनेकी अपेक्षा भागनेकी ओर, क्रियाकी अपेक्षा निष्क्रियताकी ओर अधिक झुकी हुई है। मनोविज्ञानके पण्डित इसको निगेटिव कैरेक्टर या नकारात्मक चरित्रके लक्षण बताते है। अभी हालमे एक समाज-शास्त्रीका विश्वास था कि स्त्रीका हृदय नेगेटिव या नकारात्मक होता है और पुरुषका हृदय पाजिटिव या धनात्मक होता है। समाज-शास्त्रके अभिनव प्रयोगसे यह विश्वास जाता रहा है, पर इस बातमे कोई सन्देह नहीं कि स्त्रीका हृदय अधिकाशतः नेगेटिव या नकारात्मक है। जहाँ स्त्री-शिक्षाका अभाव है, पुरुष और स्त्रीकी दुनिया अलग-अलग है, वहाँ तो निश्चित रूपसे स्त्रीमे नकारात्मक चरित्रकी प्रधानता होती है। और समाज स्त्रीके लिए जिन भूषणरूप आदर्शोंका विधान करता है उनमें एकान्तनिष्ठा, व्रीडा, आत्मा-गोपन और विनय-शीलता आदि नकारात्मक गुणोकी प्रधानता होती है। इस दृष्टिसे सुभद्राजीकी कहानियोंमें भारतीय स्त्रीका सच्चा चित्रण हुआ है। वे भारतीय स्त्रीत्वकी सच्ची प्रतिनिधि बन सकी हैं। ऊपर जिस दोषका उल्लेख किया गया है वह सच्ची परिस्थितिके चित्रणरूप गुणसे प्रक्षालित नहीं हो जाता क्योंकि उसमें लेखिकाकी वह असफलता प्रकट होती है जो

भारतीय स्त्रीकी यथार्थताके साथ वैयक्तिक स्वाधीनताके आदर्शों का सामंजस्य न कर सकनेके कारण हुई है।

आदर्शगत सामञ्जस्य जो उपस्थित किया जा सकता है इसका उत्तम उदाहरण शिवरानीजीकी कौमुदीकी कई कहानियाँ हैं। 'आँसूकी दो बूँदें' एक टिपिकल उदाहरण है। सुरेशकी वेवफाई कनकके विनाशका कारण नहीं हो जाती। वह अपने लिए दूसरा रास्ता खोज निकालती है। वह रास्ता सेवाका है। अगर उसका प्रेम नकारात्मक होता, अर्थात् उसमे लोभकी जगह विराग होता, क्रोधके स्थानपर भयका प्रादुर्भाव होता, आश्चर्यकी जगह सन्देहका उदय होता, सामाजिकताकी अपेक्षा एकान्त-निष्ठाका प्रावल्य होता, संगमेच्छाकी जगह व्रीडाका प्रावल्य होता तो शायद आत्मघात कर लेती। स्पष्ट ही भारतीय-स्त्री नामक पदार्थ उसमे कम है। भारतीय स्त्री आदर्शके अनुकूल चरित्रमे वही गुण होने चाहिये जो कनकमे नहीं पाये जाते। इसलिए कनक भारतीय स्त्री-समाजकी प्रतिनिधि हो या न हो, उस आधुनिक आदर्शकी प्रतिनिधि जरूर है, जो व्यक्ति-स्वाधीनता और सामाजिक-मङ्गलबोधके सामञ्जस्यमे अपना रास्ता निकालता है। सुभद्राजी उन वस्तुओंकी प्रतिनिधि हैं जो उनकी कहानीके उपादान हैं, शिवरानीजी उस आदर्शकी प्रतिनिधि है जो इस जातिकी कहानियोकी जान है।

कमला देवीका 'पिकनिक' और होमवती देवीका 'निसर्ग' इन दोनोके बीचकी चीज हैं। कमला देवी अपने चरित्रो, उनकी क्रियाओ और उनकी परिणतिकी ओर जितनी सयत्न है उतनी उन रूढ विषयोकी ओर नहीं जो इन चरित्रो, क्रियाओ और परिणतियोका नियमन करती हैं। निसर्गमे होमवती देवी इस ओर अधिक झुकी है। इसीलिए कमला देवीमे जहाँ वैयक्तिक स्वाधीनताके प्रति पक्षपातका स्वर प्रधान हो उठा है वहाँ होम-वती देवीमे रूढियोकी प्रधानताका स्वर। शायद यही कारण है कि कमला देवी अपने चरित्रोमें अनुभवके द्वारा काट-छाँट (विश्लेषण) करती है और होमवती देवी कल्पनाके द्वारा उन्हे मासल करनेकी चेष्टा करती हैं।

( ३ )

प्रायः सभी कहानियोंमे जीवनको समझनेका प्रयत्न किया गया है, पर रास्ता सर्वत्र प्रायः एक ही है। यह रास्ता समाजिक विधि-निषेधोंके भीतरसे होकर निकाला गया है। प्रत्येक चरित्रकी परिणति और प्रत्येक घटनाका सूत्रपात किसी सामाजिक विधि-निषेधके भीतरसे होता दिखाया गया है। सम्भवतः यह हमारी बहनोंका विशेष दृष्टिकोण हो। परन्तु उपहासच्छलसे, आनुषंगिक रूपसे या प्रतिषेध्य रूपमे भी जीवनतक पहुँचनेकी तत्तद् विभिन्न दृष्टियोंकी कोई चर्चा होनेसे यह सन्देह हो सकता है कि उन्होने या तो जान-बूझकर या अनजानमे जीवनको सांगोपांग रूपमें और सब पहलुओंसे देखनेकी उपेक्षा की है। इस विशेष बातमे भी शिवरानी देवीकी कौमुदी कुछ-कुछ अपवाद है। शेष तीन ग्रन्थ भी कभी-कभी विशेष दृष्टिकोण उपस्थित करते जान पडते है, प्रसंग आनेपर उनकी चर्चा की जायगी।

मनुष्य चरित्र जिस रूपमे आज परिणत हुआ है उसके कई कारण हैं। कई मनीषियोंने कई रूपोंमे इसे समझने या समझानेकी चेष्टा की है। अपने विशेष दृष्टिकोणका समर्थन तबतक नहीं किया जा सकता जबतक पूर्ववर्त्ती दृष्टिकोणसे इसकी श्रेष्ठता न प्रमाणित की जाय। इस प्रकार पूर्व मतके निरास-पूर्वक अभिनव मतको स्थापन करनेका नियम है। कहानीकार दार्शनिक पण्डितकी भाँति ऐसा नहीं करता। पर जीवनके प्रति उसका जो विशेष दृष्टिकोण है उसे वह कौशलपूर्ण ढगसे स्थापित करते समय अनभि-प्रेत दृष्टिकोणकी ओर उपेक्षाका भाव पैदा कर देता है। यह कार्य वह बहुत कौशलके साथ और बड़ी सावधानीके साथ करता है। हिन्दीमे इस कलाके सबसे बड़े उस्ताद प्रेमचन्द हैं। उनकी कहानियोंमे जीवनको समझनेके अनेक दृष्टिकोण बड़ी खूबीसे व्यक्त हुए है और उन सबके भीतरसे अपनी अभिमत दृष्टिकी ओर वे बडी कुशलतासे इशारा कर देते है। अपने जीवनमें उन्होने जीवनको समझनेके दृष्टिकोण बदले भी है, पर पुरानी दृष्टियोंका खोखलापन दिखाकर। 'कफन' नामक कहानी एक

उत्तम उदाहरण है। उसके पढनेसे जीवनकी कई व्याख्याओंकी निःसारता प्रकट हो जाती है। जान पड़ता है कि लेखकने अपने सामने इन व्याख्याओंको रखकर ही कहानी लिखी है। धार्मिक व्याख्या यह है कि भगवान् ससारको एक सामजस्यपूर्ण विधानमे रखनेके लिए सतत प्रयत्नशील है। जो कोई जीव, जहाँ कही भी, जिस किसी रूपमे दिख रहा है वह वहाँ उसी रूपमे आनेको बाध्य था। उसका वहाँ न रहना किसी महान् अनर्थका कारण होता। सब कुछ भगवान्की ओरसे निर्दिष्ट है, पाप और पुण्य, धर्म और कर्म, ऊँच और नीच। दूसरी व्याख्या नये विज्ञानियोकी है। प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक टेन इस मतका पोषक है। जो कुछ भी जहाँ कही, जिस किसी रूपमे दिख रहा है वह तीन कारणोसे हुआ है जातिगत विशेषताके कारण, भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि परिस्थितिके कारण, ऐतिहासिक विकास-परम्पराके भीतरसे आनेके कारण। इन तीनोंको अलग-अलग दृष्टिके रूपमें स्वीकार करके भी जीवनकी व्याख्याएँ की गयी है। एक प्रकारके पण्डित है जो स्वीकार करते है कि भौगोलिक परिस्थिति ही हमारे समस्त विधि-निषेध, आचार-विचार, दर्शन-काव्यके मूलमे है, एक दूसरे पण्डित समस्त सद्गुण और असद्गुणोके कारण आर्थिक परिस्थितिमे देखते है। उनके मतसे आर्थिक सुविधा और असुविधा ही सामाजिक, धार्मिक और मानसिक विधान-शृखलाके वास्तविक मूलमे है। 'कफ़न'में इस दृष्टिकोणकी ही प्रधानता है। धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोणके प्रति उसमे कौशलपूर्ण प्रतिवाद का भाव है। आर्थिक दृष्टिकोणकी प्रधानता कुछ इस प्रकार उपस्थित की गयी है कि मध्यम वर्गके बहुविघोषित प्रेम और करुणाकी कोमल भावनाओका कोमलपन अत्यन्त खोखला होकर प्रकट हुआ है। आलोच्य कहानियोंमे सामाजिक दृष्टिकोण और मध्यम वर्गीय कोमलताका भाव प्रबल तो जरूर है, ( असलमे वे मानो मध्यम वर्गकी कोमल भावनाके प्रति न्याय-विचारकी अपील हैं ) पर अगर अविश्वासी चित्त इस अपीलमे विश्वास खो दे तो उनके पास कोई उत्तर नही रह जाता। कमला देवी और सुभद्रा देवीकी कहानियोमें

भी कभी-कभी अप्रत्यक्ष रूपसे भौगोलिक व्याख्याकी ओर प्रवृत्ति दिखाई देती है, वे भारतीय स्त्रीमे एक खास विशेषता देखती है जो अनेक मानसिक परिणतियोंके लिए जिम्मेवार हैं और होमवती देवीमे कभी वह भाव भी पाया जाता है, जिसे स्त्री और पुरुषकी भेद-विधायक व्याख्या कह सकते हैं, और जिसके अनुसार स्त्री-चरित्रमे कुछ खास गुण ऐसे हैं जो पुरुष-चरित्रमे नही हैं और यही खास गुण अनेक परिणतियोंके लिए जवाबदेह हैं। पर इन दृष्टिकोणोंको कही भी परिस्फुट करके व्यंग्य करनेका यत्न नही किया गया। कौमुदीमे मनुष्यके व्यक्तित्वकी प्रधानता स्वीकार की गयी है। यह व्यक्तित्व परिस्थितियोंको आत्म-समर्पण नहीं करता, प्रतिकूल परिस्थितियोंमें अपना रास्ता निकाल लेता है, काल और समाजके प्रभावसे प्रतिहत नहीं होता। इस प्रकार इस विशेष दृष्टिकोणकी प्रबलताके कारण शिवरानी देवीकी कहानियोंमे सामाजिक और पारिवारिक अवस्थाके कारण जो लोग जीवनको सदा क्लान्त-क्लिष्ट देखते हैं उनका प्रतिवाद बड़े कौशलसे हो गया है। यहाँ भी शिवरानी देवी और सुभद्रा देवीका विरोध स्पष्ट हो उठता है। सुभद्राजीके चरित्रोंका व्यक्तित्व समाजके कठोर नियमोंके कारण दब जाता है और शिवरानी देवीके चरित्रोंका व्यक्तित्व समाजके नियमोंकी कठोरताको प्रायः दबा देनेमें समर्थ हो जाता है। एक देवी ने जीवनतक पहुँचनेके लिए जो रास्ता बनाया है उसमे समाजके कॉटेदार बेड़े पद-पदपर बाधा पहुँचाते हैं, दूसरीने इन बेड़ोंको रौंदकर अपने मार्गका निर्माण किया है।

देवियोंके इस विशेष दृष्टिकोणका अर्थ क्या है?

(४)

आलोच्य कहानियाँ मध्यम श्रेणीके जीवनके उन मार्मिक द्वन्द्व और समस्याओंपर अवलम्बित हैं जो पद-पदपर समाजकी गति निर्धारित कर रही हैं। किसीने कहा है कि कोई कहानी तभी महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है जब कि उसकी नींव मजबूतीके साथ उन वस्तुओंपर रखी गयी हो जो निरन्तर गम्भीर भावसे और निर्विवाद भावसे हमारी सामान्य मनुष्यताकी

कठिनाइयों और द्वन्द्वोंको प्रभावित कर रही हो। महत्त्वपूर्ण कहानी केवल अवसर-विनोदनका साधन नहीं होती। इस दृष्टिसे ये कहानियाँ महत्त्वपूर्ण तो हैं ही, पर कहानीपनके अतिरिक्त भी इनके द्वारा हम अपनी सामाजिक समस्याओंकी कुछ ऐसी गुत्थियोंके सुलझानेका मार्ग क्या पा जाते है जो आसानीसे समझमें नहीं आता ?

हमने देखा कि ऊपर जिन कहानियोंकी आलोचना की गयी है उनमेसे अधिकाशकी शिकायत है कि स्त्रियोंके प्रति अन्याय हो रहा है। क्यों ? क्योंकि समाजका संघटन अन्यायपूर्ण है। समाजका ऐसा सघटन क्यों हुआ ? इस प्रश्नपर महिलाएँ कुछ प्रकाश नहीं डालना चाहती। स्पष्ट ही हम इस विषयके सशोधनकी इच्छा रखते हुए भी उनकी सहायतासे वञ्चित है। ॲगरेजी कहावत है कि डिस्काइव् ( वर्णन ) करना सहज है, प्रेस्काइव् ( उपायनिर्देश ) करना कठिन। आलोचक महिलाओंकी प्रवृत्तियोंको यथामति डिस्काइव् कर गया, वह प्रेस्काइव् क्या करे ? मन्थनसे अमृत भी निकला, गरल भी निकला, तो क्या हुआ ? इसका विनियोग कहाँ हो ?

छूटते ही जो बात पाठकको लगती है वह यह है कि आलोच्य कहानियोंकी लेखिकाएँ परिवार और समाज ( एक शब्दमे 'समूह' ) परसे अपनी चिन्ता हटा नहीं सकतीं। इस एक विन्दुपर ही उनका सारा ध्यान केन्द्रित है। वे लोग निश्चय ही हमारे समाजके बहुत ही महत्वपूर्ण आधे हिस्सेकी प्रतिनिधि है, इसलिए यह कहनेमें कोई सकोच नहीं कि स्त्रीका समूचा ध्यान परिवार और समाजपर है। जब कि पुरुष इस व्यावसायिक युगके दुर्निवार्य प्रवाहमे वहकर नाना घाटोंमें जा लगा है, जब कि व्यक्ति-स्वाधीनताने पुरुष की सौ महत्वाकाक्षाओंको नितरा उत्तेजित कर दिया है, जब कि आर्थिक चक्रके भीमवेग आघूर्णनने कुटुम्ब की भावनाको ही पीस डाला है, जब कि स्फीतकाय नागरिक सभ्यताने पुरुषकी कोमलताको एकदम कुचल डाला है, स्त्री परिवार, कुटुम्ब और समाजसे और भी जोरसे चिपट गयी है। उसके स्वभावमे ही समूहके प्रति

निष्ठा है, उसने अपने रक्तसे समाजमें दलबद्धता पैदा की है, वह जीव-शास्त्रियों-द्वारा निर्दिष्ट उस श्रेणीका जन्तु है जो दल बाँधकर ही रह सकते हैं, जो ग्रिगेरियस ( Gregarious ) है। उसने सहानुभूतिके भीतरसे ही अपनेको बचाया है, अपनी रक्षा की है, आज भी सहानुभूति पर ही उसका विश्वास है। शरीरबलसे (जो पशुकी सम्पति है) वह हार चुकी है, न्याय और सद्भावनापर उसका विश्वास इसीलिए और भी दृढ हो गया है।

आधुनिक सभ्यताका सर्वाधिक कठोर वज्रपात स्त्रीपर हुआ है। उसने स्त्रीको न केवल स्थानच्युत किया है, उसको केन्द्रसे दूर फेंक दिया है, बल्कि उसमे विकट मानसिक द्वन्द्व भी ला दिया है। हमारी आलोच्य कहानियोंमें केन्द्रच्युतिकी ओरसे कोई शिकायत नहीं की गयी है, स्पष्ट ही हमारी देवियोंने इस महान् अनर्थको महसूस नहीं किया है, जो व्यक्ति-स्वाधीनताका पुछल्ला होकर आता है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार व्यावसायिकक्रांतिके पीछे व्यक्ति-स्वाधीनता आयी है। परन्तु दूसरी बातको हमारी देवियोंने महसूस किया है। रुढि-समर्पित आदर्श स्त्री और व्यक्ति-स्वाधीनतासे प्रभावित आधुनिक स्त्रीका द्वन्द्व हमारी आलोच्य कहानियोंमें पदे-पदे दिखाई देता है। यह एक अद्भुत विरोधाभास है कि इन कहानियोंमे एक ही साथ व्यक्ति स्वाधीनता और समाज-निष्ठा दोनोंको स्वीकार कर लिया गया है, मानो इनमे कोई विरोध ही न हो, मानो वे दोनो एक ही चित्रके दो पहलू हो। पर हम अगर इन विरुद्धाभासित कोटियोंमें सामजस्य खोजना चाहे तो हमे ज्यादा देर भटकना नहीं पडेगा। आधुनिक शिक्षाने स्त्रीमे भी पुरुषकी भाँति महत्वाकाक्षाके भाव भर दिये है, वह भी पुरुषके साथ प्रतिद्वन्द्विताके लिए निकल पड़ी है, परन्तु पुरुषकी भाँति उसकी स्वाधीनतामे लापरवाही नहीं है। वह वर्तमान परिस्थितियोंके साथ समाजका सामंजस्य चाहती है। वह जो कुछ नया करने जा रही है उसके लिए समाजकी स्वीकृति चाहती है। वह उस नयी समाजव्यवस्थाको गढ़नेके लिए व्याकुल है जो स्त्रीकी महत्वाकाक्षाका विरोधी न हो। स्त्रीकी

वैयक्तिकता समाजकी स्वीकृति चाहकर समाजकी प्रधानता को स्वीकार कर लेती है। आलोच्य कहानियोमे इसी स्वीकृतिका प्रयत्न है।

समाजको स्त्रीने जन्म दिया था। दलबद्धभावसे रहनेके प्रति निष्ठा होनेके कारण वह उसी ( समाज ) की अनुचरी हो गयी। पुरुष यहाँ भी आगे निकल गया। वह समाजसे भागना चाहता था। स्त्रीने अपना हक त्यागकर उसे समाजमे रखा, उसके हाथमे समाजकी नकेल दे दी। पुरुष समाजका विधायक हो गया। इतिहास उलट गया। जमानेके साथ गल-तियोंकी मात्रा बढती गयी, पुरुष अकडता गया, स्त्री दबती गयी। आज वह देखती है कि उसीके बुने हुए जालने उसे बुरी तरह जकड़ डाला है। वह उसे प्यार भी करती है, वह उससे मुक्त भी होना चाहती है। यही द्वन्द्व है। यही समस्या है। यही विरोधाभास है। वह फिर एक बार इसे अपने हाथों खोलकर फिरसे बुनेगी ? उचित तो यही था, पर हमारी देवियाँ इस विषयमे मौन है।

# केतु-दर्शन

१२ नवम्बरकी ऐतिहासिक रात थी। मै लगभग तीन बजे उठ गया। धूमकेतुकी धूम मची हुई थी। इसे देखना जरूरी हो गया था। ज्योतिषसे नाता टूट गया है लेकिन पिण्ड नही छूटा है। लोग हजार तरहके प्रश्न पूछते है। जवाब तो देना ही पड़ता है। सो, बारह नवम्बर-की रातको घरसे बाहर निकल पडा। ज्योतिषीकी दुनियामे इस तारीखको एक अद्‍भुत घटना हुई थी। उस दिन रातके ठीक तीन बजे सारा आकाश आतिशबाजीकी शोभासे उद्दीत हो उठा था। नीचे ऊपर, दायें-बाये ज्वलन्त उल्कापिंडोंकी ऐसी लहाछेह वर्षा हुई थी कि देखने वालोंने पृथ्वीके भविष्यकी आशा छोड़ दी थी। यह १९१७ ई० की बात है। तबसे अबतक १२ नवम्बरकी तिथि कितनी ही बार आयी, और गयी लेकिन वैसा दृश्य फिर नहीं दिखाई दिया। १४ नवम्बरको अवश्य ही सिंह राशिके पासके यदा-कदा आकाशबान छूटते नजर आते हैं, पर १२ नवम्बरकी घटना ऐतिहासिक हो गई है। अगर वह ऐतिहासिक न होकर कहीं ज्योतिषिक, होती, तो मेरा रात जागना धूमकेतुके बिना भी सार्थक होता। लेकिन जो बीत गयी सो बीत गयी। आज नये धूमकेतु आये हैं, परिव्राजक जातिके पिड हैं, कौन जाने फिर कभी पधारेगे या नही, देख ही लेना चाहिये। पुराने जमानेके धुरन्धर ज्योतिषी वराह-मिहिरने साफ शब्दोमें इन लोगोकी चाल-ढालका पता लगानेमे अपनी हार मान ली थी। वृहत्सहितामे कह गये है, इन भलेमानसोकी गति और उदय-अस्तका पता गणित विधि से नही चलता 'दर्शन-मस्तमन वा न गणितविधिनाऽस्य शक्यते ज्ञातुम्' ॥ आधुनिक ज्योतिषी इतना नहीं कहते, मगर उनके भी कहनेका अर्थ कुछ इसीके आसपास पहुँचता है। सो, केतु-दर्शन दुर्लभ सौभाग्य है। मुझसे भी अधिक

चिन्तित मेरे बच्चे थे। छोटे हजरतने स्कूलमें जो कुछ सुना था, उस परसे अनुमान कर लिया था कि रातको कोई लम्बी पूँछवाला लंगूर आनेवाला है। उनका उमोच्छेद भी कर्तव्य था।

जो लोग दीवारोंसे घिरे और छतसे ढंके कमरोंमें रात काटनेके अभ्यस्त हैं, उनसे यदि कहूँ कि रात जीवन्त वस्तु है तो न जाने क्या कहेंगे। लेकिन जो कोई भी आँख कान रखनेवाला भले आदमी तारा-खचित आसमानके नीचे घण्टे-आध-घण्टेके लिए आ खड़ा होगा, वह अनुभव करेगा कि रात सचमुच ही जीवन्त पदार्थ है। वह साँस लेती हुई जान पड़ती है, उसके अङ्ग-अङ्गमें कम्पन होता रहता है, वह प्रसन्न होती है, उदास होती है, धुँधुआ जाती है, खिल उठती है। धीरे-धीरे, लेकिन निस्सन्देह, वह करवट बदलती रहती है, सो जाती है, जाग उठती है! हर किसान रातके 'विहँसने' का अनुभव किये होता है। एक बार मैं गाँवसे ऐसी ही विहँसती हुई रातको उषःकाल समझ कर निकल पड़ा था और आठ मील पैदल चलनेपर भी जब सूर्योदय नहीं हुआ तब अपनी गलती समझ सका था। ज्योतिषके विद्यार्थीके समान सौभाग्यवान् विरला ही शास्त्रजिज्ञासु होता होगा। उसे आसमानमें आनन्द मिलता है, और यदि मेघाच्छन्न आकाश कुछ भी दिखानेको प्रस्तुत न हो, तो रातकी शोभाको कौन छीन सकता है? ज्योतिष अपने प्रेमीको कभी खाली हाथ नहीं लौटने देता।

१२ नवम्बरकी रातको एक उल्का मुझे अस्तगामी एण्ड्रोमीडा नक्षत्र के पास दिखी, मैं पूर्वी आकाशमें देखनेकी आशामें था। विराट् शून्यको अगर समुद्र समझें तो उसमें कोटि-कोटि नक्षत्र-पुंज कई द्वीपपुंजोंके समान हैं। हमारा यह नक्षत्र-जगत् एक द्वीपपुंज है। दूसरा जो हमारे सबसे निकटका पड़ोसी द्वीपपुंज है वह भरणी नक्षत्रके समीपवर्ती इस एण्ड्रोमीडाके ही पासकी एक नीहारिका है। इस विराट् ब्रह्माण्डके असायजनवीश ज्योतिषी लोगोंने हिसाब लगाके बताया है कि इस पड़ोसी नक्षत्रपुंजका जो हमारा सबसे निकटवर्ती नक्षत्र है, उसका

प्रकाश पृथ्वीतक सिर्फ नौ लाख वर्षोंमे ही पहुँच जाता है, और जो हमसे वहुत दूर है, उसके प्रकाशके आनेमे कुछ ज्यादा समय जरूर लग जाता है सिर्फ ३ अरब वर्ष ! लेकिन फिर भी वह हमारे सबसे निकट-वर्ती द्वीपपुजकी आखिरी सीमाका ही पत्थर है। उल्का पिंड यद्यपि वही-से आता दिखाई दिया, मगर मुश्किलसे उसकी ऊँचाई २५-३० मीलकी रही होगी। वह तो केवल हमारी आँखको सुदूर शून्यमे खींच लेनेका एक बहाना मात्र था। ऐसा लगा मानो किसीने अनन्त शून्यमे कुछ देखने या दिखाने के उद्देश्यसे दियासलाई जला दी हो !

पूर्वी आकाशका मुख उज्ज्वल हो गया जैसे प्राची दिग्वधूने हँस दिया हो। शुक्र देवता या वीनस देवी यवन देवियोमे सर्वाधिक सुन्दरी उदय होनेवाली हैं। कालिदास होते तो कह उठते

**अलकसंयमनादिव लोचने**
**हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम् !**

ऐसा जान पडता है कि प्राची दिशारूपी सुन्दरीने अपने मुखपरसे केशोंको हटा लिया है, और इस प्रकार एकाएक उद्भासित मुख मेरी आँखोको बरबस खींच रहा है। अवश्य मैं निश्चित रूपसे इस बातको नहीं कह सकता, क्योकि कालिदासने चन्द्रमाकी उदयगूढ किरणोको देखकर ही उल्लास प्रकट किया था। मै केवल यही कह सकता हूँ कि शुक्र का उदय भी कम लुभावना नही होता और मेरा विश्वास है कि इस विषय मे कालिदास मुझसे अधिक लोभी थे।

यह हस्त नक्षत्र उदित हुआ। पाँचो अगुलियाँ साफ दिख रही हैं। इसके पास ही कुहासे सा दिखाई दिया। धूमकेतुकी यह पूँछ थी। हिन्दी-में इसे पुच्छल तारा कहा जाता है इसलिए मैं भी इस झाडनुमा पताका को पूँछ कह रहा हूँ। असलमें यह पूँछ नही है। प्राचीन आचार्योंने 'पुच्छलतारा'को केतु ( पताका ) धूमकेतु ( धुँएकी पताका ) और शिखी ( चोटीवाला ) कहा है। यही उचित भी है। क्योकि आधुनिक शोधोंसे प्रमाणित हो गया है कि जिसे 'पूँछ' कहा जाता है वह वास्तवमें शिखा

या चोटी है। जब धूमकेतु सूर्यके पास पहुँचता है, तो उसके भीतरके लघुमार गैसीय पदार्थ सूर्यकी ओर उसी प्रकार आकृष्ट होते हैं, जिस प्रकार धारायन्त्र ( फव्वारे ) से ऊर्ध्वमुख धाराएँ निकलती हैं। फिर सूर्यकी प्रकाश राशिका ऐसा दबाव पड़ता है कि वह उसी प्रकार पीछे फिक जाता है जिस प्रकार पृथ्वीके आकर्षणसे धारायन्त्रकी ऊर्ध्वमुख धाराएँ नीचे लौट आती हैं। यही कारण है कि केतुकी शिखा या पताका केतुपर सूर्यसे उलटी दिशामे रहती है। अब यदि फव्वारेकी धाराएँ पूँछ हैं तो केतुका पिछला हिस्सा भी पूँछ है और यदि वह शिखा है तो यह भी शिखा है। मुझे शिखा कहना ज्यादा अच्छा लगता है पर जो चल पड़ा है उसे मान लेना ही उचित है 'गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः'। दुनियाका यही नियम है। मारविने अफसोसके साथ कहा था कि दुनियाको सच्चे अर्थसे कोई मतलब थोड़े ही है। जो जीमे आया कह दिया। दुनियाको नाश करनेवाले देवताका नाम रख दिया 'शिव' ( कल्याण ) और पालन करनेवाले का नाम दे दिया जनार्दन ( जनका नाश करनेवाला )! अब, इसके चक्करमे कौन पड़े? अपनेसे भरसक गलती नहीं करनी चाहिये

**धियोत्मनस्तावदचारु नाचरेत्**
**जनस्तु यद्वेद स तद्वदिष्यति।**
**जनावनायोद्यमिनं जनार्दनं**
**जगत्क्षये जीव्यशिवं शिवं वदन्॥**

सो, धीरे-धीरे हस्त नक्षत्रके पास धूमकेतुका उदय हुआ। आहा, क्या सुन्दर पताका ( केतु ) है! श्वेत पताका शान्तिका सन्देशवाहक है। कम लोग जानते होगे कि धूमकेतु कभी-कभी शुभ फल भी देते है। मेरा मन, लेकिन, इस धूमकेतुको देखकर सन्नाटेमे आ गया। यह दक्षिण-पूर्वमें हस्त नक्षत्रके पास उदय, यह झबरीली शिखा, यह लाल-लाल ज्वलन्त नाभि, ये सब तो अच्छे लक्षण नहीं हैं। पुराने पण्डित इससे निश्चित रूपसे सशङ्क हो उठते। ऐसे केतु अग्नि देवताके पुत्र होते हैं, वे

भयके कारण होते हैं। और ये क्या एक-दो है, सब मिलाके पचीस भाई है।

**शुकदहनबन्धु जीवकलाक्षाक्षतजोपमा हुताशसुताः।**
**आग्नेय्यां दृश्यन्ते तावन्तस्तेऽपि शिखि भयदाः॥**

न जाने यह भाइयोमे कौन-सा है। सबसे छोटा भाई तो नही होगा, बडा भी नहीं है। मैग्निच्युडके हिसाबसे चौथा या पॉचवॉ होगा। खैर, कोई बात नही। भयके हेतु होनेमे उतना डर नहीं है। डर यह है कि हस्त नक्षत्रवाला केतु दण्डकारण्यके राजाका नाश कर डालता है!

यह दण्डकारण्य कहॉ है? भाण्डारकरने बताया था कि नागपुर समेत समूचा महाराष्ट्र ही दण्डकारण्य है। पर्जिटरने कहा था कि बुन्देलखण्डसे लेकर कृष्णा नदीके तटका सारा देश दण्डकारण्य कहा जाता था। मगर उन ज्योतिषियोको मैं बहुत बुद्धिमान नही मानता जो ग्रहस्थिति देखकर फल भाखा करते हैं। बुद्धिमान ज्योतिषी वह है, जो फल देखकर ग्रह-स्थितिका पता बतावे। आये दिन ऐसे बुद्धिमान ज्योतिषियोके विवरण पत्र-पत्रिकाओंमें निकलते ही रहते है। जब कोई परिणाम हो जाता है, तो वे ग्रहस्थितिका अध्ययन करते हैं। कुछ तो इतने चतुर हैं कि फल देखकर यह भी कह देते हैं कि किस अतीतमे उन्होने ऐसे ही फलके होनेकी भविष्यवाणी की थी! बुद्धिमान फलसे वृक्षका पता लगाते है। जब किसी अधिपतिके लिए भयका फलादेश शास्त्रमे मिल ही गया है तो अनुमान कर लेनेमें क्या बुराई है? मुझे आशङ्का हुई कि दण्डकारण्य कहीं हैदराबादकी रियासत तो नहीं है। बुरा मै किसीका नही सोचना चाहता। भगवान् करे, दण्डकारण्य भूलोकमे कही हो ही नहीं!

मगर जाने भी दीजिये। धूमकेतु बिलकुल शुक्रके पास है। पहलेके ज्योतिषी लोग मानते थे कि ये तीन जातिके हैं दिव्य, अन्तरिक्ष और भौम। नये ज्योतिषी भी तीन प्रकारके मानने लगे थे दीर्घवृत्तमे घूमनेवाले, परवलयमें विचरनेवाले और अतिपरवलय-मार्गमे रमनेवाले। दीर्घवृत्त वालोंका कुछ हिसाब लग जाता है क्योकि दीर्घवृत्तकी एक सीमा होती

है, परन्तु परवलय और अतिपरवलयमें घूमनेवाले एकदम रमते राम होते हैं। इधरसे आये, उधर निकल गये। अनुमान किया गया था कि दीर्घवृत्तवाले भी पहले रमते राम ही थे, लेकिन संयोगवश इस दुनियाके आकर्षणके चक्करमें पड गये हैं, इस आकर्षणकी माया न काट सकनेके कारण ही इन्हें घरबारीका भेष धारण करना पडा है। स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने लिखा है कि ये लोग सूर्यके परिवारमें एकदम बिराने हैं। "बहुत दूरसे अचानक सूर्यके इलाकेमें आ जाते हैं। किसी प्रकार एक बार सूर्यके चारों ओर प्रदक्षिणा समाप्त करके तत्काल विरागी होकर निकल पड़ते हैं!" परन्तु अब, सुना है कि ज्योतिषियोंने अपना मत बदल दिया है। वे मानने लगे हैं कि वस्तुतः सभी केतु दीर्घवृत्तमें ही घूमते हैं। कोई देर आता है, कोई सवेर, लेकिन आते सब हैं। सब मायामें फँसे हैं, वैरागी कोई नहीं। मगर मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ।

कुछ थोड़ेसे धूमकेतुओंकी गतिविधिका पता लग सका है। एक हैली धूमकेतु है, जो सन् १९१० ई० में अन्तिम बार दिखा था। हैली नामके ज्योतिषीने पहले पहल हिसाब लगाकर देखा था कि यह ७६ वर्षमें लौटता है, और इसका मार्ग दीर्घवृत्ताकार है। तबसे यह कई बार देखा गया है और इसका नाम ही 'हैली धूमकेतु' पड गया है। १९१० ई० की १९ वीं मईको यह सूर्य और पृथ्वीके बीचमें आ गया था। २० मईको तो यह पृथ्वीके बहुत नजदीक आ गया। सूर्यके सामने आनेपर यह और भी तेजस्वी बना। इसकी पूँछ अर्थात् शिखा उदयगिरिसे अस्तगिरितक पहुँचती थी। उस चौड़ी उज्ज्वल शिखाको देखकर एक कविने आकाश सुन्दरीकी उज्ज्वल सीमन्त रेखाका सौन्दर्य अनुभव किया था। एक दिन तो हमारी यह पृथ्वी उसकी पूँछके भीतरसे निकल गयी। पढे-लिखे अर्थात् समझदार समझे जानेवाले लोग घबरा गये थे। प्रतिक्षण कुछ घट-पडनेकी आशंका थी। त्राहि-त्राहि मच गयी थी। लेकिन बादमें मालूम हुआ कि विधाताने पृथ्वीको काफी मजबूत बनाया है, धूमकेतु इसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते उनकी पूँछ तो बिलकुल नहीं। १९१०

ई० मे पृथ्वी बच गयी और उम्मीद की जानी चाहिये कि १९८६ ई० मे भी बच ही जायगी। अगर नही बच सकी, तो उसका कारण धूमकेतु नही होगा, मनुष्यके बनाये हुए मारणास्त्र होगे। खैर।

अब यह 'हैली' नामक धूमकेतु है, वह बराबर इसी प्रकार देखा गया है। ८७ ई० पू० से लेकर १९१० ई० तक वह प्रति ७६ वे वर्ष देखा गया है, और ससारके इतिहासमे कही न कहीं उसकी चर्चा अवश्य मिल जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि पॉचवी शताब्दीके मध्यभागके आस-पास यह भारतवर्षमे भी दिखा था। पराशर नामक ज्योतिषीने उसका नाम 'चलकेतु' दिया था। सयोगवश उसी समय हूण दस्युओका बड़ा घोर आक्रमण हुआ था और समूचा मध्यदेश विध्वस्त हो गया था। पराशरका विश्वास था कि यह केतु १५०० वर्ष बाद उदित होता है। पराशरके आधारपर वराहमिहिरने अपनी बृहत्सहितामे लिखा है कि चलकेतु पश्चिम दिशामे उदित होता है, उसकी शिखा दक्षिणकी ओर झुकी होती है और अगुल भर ऊँची दिखती है। जैसे-जैसे वह शिखा उत्तरकी ओर झुकती जाती है, वैसे-वैसे बढ़ती जाती है ( यहॉ यह स्मरण रखना चाहिये कि केतुकी शिखा सूर्यके निकट आनेसे बढ़ती जाती है ), फिर तो वह सतर्षियोको, ध्रुवको और अभिजित् नक्षत्रको छूती हुई आकाशके आधेसे भी अधिक भागको ढॅक लेती है। यह प्रयागसे लेकर अवन्तीतकके सम्पूर्ण मध्यदेशका नाश कर डालता है और दस या अठारह महीनेतक प्रजा रोग और दुर्भिक्षका शिकार हो जाती है। चल-केतुका यह विवरण इस धूमकेतुके अन्य प्राप्त विवरणोसे मिल जाता है।

तो प्रकृत बात यह है कि हमारा नया धूमकेतु शुक्रके पास दिखाई दे रहा है। पता नहीं यह कोई पुराना परिचित केतु है, या नया उग आया है। ज्योतिषी लोग इसकी जात-पॉत जाननेमे लगे हैं, जल्दी ही इसकी जन्मपत्री तैयार हो जायगी। एक बार एक ऐसा ही केतु बुधके पास पहुँच गया था। वह ज्योतिषियोका पहचाना हुआ था। बुधने आकर्षणकी ऐसी नकेल खीची कि बिचारेका रास्ता ही गड़बड़ा गया।

जहाँ ज्योतिषी लोग उसका इन्तजार कर रहे थे, वहाँ पहुँच तो गया मगर जरा देरसे। ज्योतिष शास्त्रके बारेमें पहले ही कह चुका हूँ कि वह कभी अपने जिज्ञासुको खाली हाथ लौटने नहीं देता। इस बार जो इस मार्गभ्रष्ट धूमकेतुके आनेमें देर हुई उससे ज्योतिषियोंको लाभ ही हुआ। हिसाब लगाकर उन्होंने बुधका वजन निकाल लिया। कई बार पता लगा था कि पृथ्वीकी बराबरी करनेके लिए बुधको इक्कीस गुना भारी होना पड़ेगा। मैं सोचने लगा था कि इस बार भी कुछ नया गुल खिलेगा क्या! अभी तो कुछ पता नहीं चलता है।

क्या केतुओंकी संख्या जानी जा सकती है? गर्गने न जाने किस प्रकार गणना करके यह संख्या १०१ बतायी थी, पराशरने एक सहस्र। मौजी ज्योतिषी नारदने कहा था है तो एक ही, लेकिन बहुरूपिया है! होगा!

मैं इस प्रभातकल्पा शर्वरीके उपान्त्य भागमें आश्चर्यके साथ धूमकेतुको देख रहा हूँ। मनुष्य कितना जानता है! इस विपुल ब्रह्माण्ड-निकायमें वह कैसा क्षुद्र जीव है, फिर भी कितनी शक्तिका स्रोत है वह! वह धूमकेतुसे पहले डरा था, फिर घबराया था, लेकिन अब उसने इसका भी रहस्य बहुत कुछ जान लिया है, और भी जाननेके लिए हाथ-पैर मार रहा है। मनुष्य हारेगा नहीं। निराश होनेकी कोई बात नहीं है। जो लोग केतुको देखकर ही घबरा गये हैं, उन्हें समझना चाहिये कि मनुष्यकी बुद्धिको जिस शक्तिने इतनी महिमा दी है, वह उसे केतुसे हारने नहीं देगी।

# ब्रह्माण्डका विस्तार

भारतवर्षके प्राचीन ज्योतिषियोंने ब्रह्माण्डका विस्तार बतानेका प्रयत्न किया है। ब्रह्मगुप्त, श्रीपति, भास्कराचार्य, चतुर्वेदाचार्य प्रभृति ज्योतिषियोंने बताया है कि आकाशकी कक्षा १८७१२०६९२०००००००० योजनोंकी है। परन्तु प्राचीन भारतमें यह एक विवादास्पद विषय ही रहा है कि यह लम्बी संख्या जिसे आकाश-कक्षा (या संक्षेपमें ख-कक्षा) कहते हैं, वस्तुतः क्या चीज है। यह क्या वही वस्तु है जिसमें रातको फैले हुए असंख्य नक्षत्र और ग्रह विचरण करते दिखाई देते हैं, या कुछ और? कुछ विद्वानोंका मत था कि यह ब्रह्माण्डकी परिधि है। भास्कराचार्यने अपनी कविजनोचित भाषामें इनके मतको "ब्रह्माण्ड-कटाह-सम्पुट-तट"का मान बताया है। हिन्दू शास्त्रोंके अनुसार ब्रह्माण्ड दीर्घवर्तुलाकार पिण्ड है। 'ब्रह्माण्ड' शब्दमें ही इसके अण्डाकार होनेकी ओर इशारा किया गया है। यह मानो दो विराट् कड़ाहोंको उलटकर जोड़ दिया गया है, जिसकी परिधिका सर्वाधिक विस्तार उस स्थानपर है जहाँ दोनों कड़ाह मिलते हैं। इसीलिए ब्रह्माण्डकी परिधि यह 'कटाह-सम्पुट-तट' ही हुआ। इस प्रकार इस श्रेणीके विद्वान् ऊपरकी लम्बी संख्याको ब्रह्माण्डकी परिधि ही मानते थे। परन्तु पौराणिक विद्वान् और ही कुछ समझते थे। उनके मतसे यह उदयगिरि और अस्ताचलके बीचका अन्तर है। सूर्यको प्रति दिन इतनी दूरी तै करनी पड़ती है। भास्कराचार्य कहते हैं कि जिन विद्वानोंके लिए खगोल इतना सहज हो गया है जितना हथेलीपर रखा हुआ आँवलेका फल, वे इन दोनों बातोंको स्वीकार नहीं करते। वे कहते है कि सूर्यकी किरणें जहाँतक पहुँच सकती हैं उस समूचे गोलकी परिधि इतनी बड़ी है अर्थात् यह उस आकाशकी सीमा है जिसे आदमी सूर्य-किरणोंकी सहायतासे देखता है। इसी महाकाशमें हम ग्रहों और नक्षत्रोंको

घूमते देखते है। यह विश्वकी सीमा नहीं है और न यही कहा जा सकता है कि भारतवर्षीय ज्योतिषियोके परिकल्पित नक्षत्र-लोककी यह कक्षा है। क्योंकि पृथ्वीके ऊपर इन पण्डितोने जो सात वायुके स्तर कल्पित किये हैं उनमेसे अनेक स्तर इसके ऊपर आ जाते हैं। ये सात स्तर इस प्रकार है आवह, प्रवह, उद्वह, संवह, सुवह, परिवह और परावह। इनमे आवह नामक स्तर वह है जो हमारी पृथ्वीके ऊपर बारह योजन तक लिपटा हुआ है। इसीमे मेघ और विद्युत् आदि है। इसके बाद बहुत दूरतक प्रवह वायुका क्षेत्र है जो नियमित रूपसे पश्चिमकी ओर बड़े वेगसे बहता रहता है और ६० घटी या २४ घण्टेमे एक पूरा चक्कर लगा देता है। इस वायुके झकोरेमे पड़कर पृथ्वीके ऊपरके सातो ग्रह (क्रमशः चन्द्रमा, बुध, शुक्र, सूर्य, मङ्गल, बृहस्पति और शनि) तथा समस्त नक्षत्रगण नियमित रूपसे २४ घण्टे मे पृथ्वीकी एक परिक्रमा कर आते हैं। चूँकि नक्षत्रोमे, इन पण्डितोके मतसे, गति नहीं है, इसलिए वे प्रवह वायुके झकोरेसे ठीक समयपर अपने-अपने स्थानोमे आ जाते है, पर ग्रहोमे गति है, और वह भी प्रवह वायुकी उल्टी ओर, इसलिए ग्रहगण २४ घण्टेमे ठीक उसी स्थानपर नहीं आ पाते जहाँसे वे चले थे। यही कारण है कि हम ग्रहोको सदा पूर्वकी ओर खिसकते देखते रहते है। ऊपरकी संख्या प्रवह वायुके अन्तर्गत पड़नेवाले क्षेत्रके बाहर नहीं हो सकती। अभी उसके ऊपर और भी पाँच वायु स्तर हैं जिनके विषयमे हमे कुछ ज्ञात नहीं।

परन्तु भास्कराचार्य प्रभृति ज्योतिषी व्यवहारवादी थे। वे उस वस्तुके सम्बन्धमे कोई बहस नहीं करना चाहते थे जिसकी उनके गणितमे कोई जरूरत ही न हो। इसीलिए उन्होने ऐसी बहुत-सी बातोका विचार छोड़ दिया है जिनका उनके मतमे कोई प्रयोजन नहीं है। इस ब्रह्माण्ड-परिधि-सम्बन्धी विचारको उन्होने बहुत महत्त्व नहीं दिया है। वे कहते हैं कि हमे यह ठीक नहीं मालूम कि ऊपरकी लिखित संख्या ब्रह्माण्डकी परिधि-सम्बन्धी है या नहीं। किसीने ब्रह्माण्डकी सीमा कभी नापी नहीं। प्रमाणके अभावमे हम किसी मतको मानना नहीं चाहते। पर ब्रह्माड इतना बड़ा हो या

नहीं, असली बात यह है कि कल्पभरमे सभी ग्रह इतने ही योजन चला करते है। पूर्वाचार्योंने ग्रहके कल्पभरमे तै किये हुए योजनात्मक विस्तारको ही 'खकक्षा' नाम दिया है। यही व्यवहारके उपयुक्त बात है। यह स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दू ज्योतिषियोके मतसे सभी ग्रह दूरीमे बराबर ही चलते है। फिर भी कोई ग्रह तीव्र गतिसे चलता हुआ और कोई मन्द गतिसे चलता हुआ इसलिए दिखाई देता है कि उनके घूमनेके जो मार्ग है वे बराबर नहीं है। छोटे वर्तुल मार्गमें चलनेवाला ग्रह बड़े वर्तुलवालेके बराबर ही चलता है, पर पृथ्वीसे देखनेवालेकी दृष्टिमें वह बड़े वर्तुलवालेकी अपेक्षा बडा कोण बनता है और इसीलिए अधिक चलता दिखाई देता है।

यह जो भास्कराचार्यका कथन है कि ब्रह्माण्ड इतना बड़ा हो या नहीं "ब्रह्माण्ड मेतन्मितमस्तु नो वा" यही आधुनिक युगके पूर्ववर्ती समस्त जगत्‌के ज्योतिषियोकी बात थी। यूरोपके ज्योतिषियोंमे भी ब्रह्माण्डके विषयमें इसी प्रकारकी उपेक्षा पायी जाती थी। यूरोपमे यद्यपि बहुत पुराने जमानेमे एरिस्टार्कस नामक ज्योतिषीने ( ई० पू० २५० ) कहा था कि पृथ्वी स्थिर नहीं है, बल्कि अपनी धुरीपर घूम रही है और इस प्रकारका मत भारतीय आर्यभट आदि ज्योतिषियोने भी प्रकट किया था पर वस्तुतः यह धारणा सदा बनी रही कि पृथ्वी ही ब्रह्माण्डके केन्द्रमें है। टालेमीने ( १५० ई० ) जो ग्रहो का क्रम नियत कर दिया था, जो हू-ब-हू भारतीय ज्योतिषियोके निर्धारित क्रमके समान ही है, वही उस दिनतक यूरोपमे मान्य समझा जाता था। सन् १५४३ ई० मे जब कोपरनिकसने सिद्ध किया कि वस्तुतः पृथ्वी केन्द्रमे नहीं है, सूर्य ही केन्द्रमें है और पृथ्वी अन्यान्य ग्रहोंकी भाँति सूर्यकी परिक्रमा कर रही है तो विचारोंकी दुनियाँमे एक जबरदस्त क्रान्ति हुई। यह क्रान्ति केवल विचारोंमे हुई। वस्तुतः ज्योतिष सम्बन्धी तथ्य बहुत दिनोतक बदले नहीं। पर विचारोकी दुनियामें जो क्रान्ति हुई उसने प्राचीन विश्वासोको बुरी तरह झकझोर दिया।

मनुष्य अबतक अपनेको ब्रह्माण्डके केन्द्रमे रहनेवाला सर्वश्रेष्ठ प्राणी समझता था, अब नये शोधोने सिद्ध कर दिया कि इस अनन्त ब्रह्माण्डमे

उसकी पृथ्वी बालूके कणके बराबर भी नहीं है! विश्व बहुत बड़ा है, ब्रह्माण्ड असीम है, पृथ्वी और अन्यान्य ग्रहोंके सम्बन्धमें जानना बहुत अधिक जानना नहीं है। अगर समस्त ग्रहोंका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त भी हो जाय तो वह विराट् ब्रह्माण्डके अज्ञात रहस्योंकी तुलनामें कुछ भी नहीं है। इस प्रकार मनुष्यका ध्यान ग्रहोंपरसे हटकर नक्षत्रोंपर गया। रातको झिलमिलाते हुए ये असंख्य छोटे-छोटे प्रकाश-बिन्दु क्या हैं, वे कितने हैं, कितनी दूरीमें फैले हुए हैं ये प्रश्न बार-बार मनुष्यके मानसपटलपर आघात करने लगे।

दूरबीनके आविष्कारने इस विचारको और भी आगे ठेल दिया। खाली आँखोंसे जितने नक्षत्र दिखाई देते हैं उसके कई गुना अधिक दूरबीनकी सहायतासे दिखने लगे। जिसको पौराणिक पण्डितोंने आकाशगंगा कहा था, उसमें कोटि-कोटि नक्षत्रपुञ्ज दिखाई पड़े। गणित-शास्त्रकी उन्नतिके साथ ही साथ इनके परिमाण और विस्तारका रहस्य कुछ प्रकट होता गया। ज्योतिषीने पथराई आँखोंसे इस विश्वकी अनन्तताको देखा, उसका कौतूहल बढ़ता गया। प्राचीन ज्ञान उसे बिलकुल नगण्य जँचा। इसी बीच फोटोग्राफीका आविष्कार हुआ। जो बात दूरबीनकी भी शक्तिके बाहर थी उसे फोटोग्राफीके प्लेटने पकड़ना शुरू किया। नक्षत्र-गुच्छोंसे ठसाठस भरे हुए विश्वकी नाप-जोख ज्यों-ज्यों बढ़ती गयी, मनुष्यकी जिज्ञासा भी बढ़ती गयी। ज्योतिषका, गणित-शास्त्र और पदार्थ-विज्ञानसे बड़ा गहरा सम्बन्ध है। तीनोंकी उन्नति एक दूसरेको आगे ढकेलती गयी। अन्तमें, पृथ्वीके निर्माणसे लेकर विश्वकी परिणतितकमें एक सर्वमान्य नियमकी खोज लगायी जा सकी। खुली आँखोंसे रात्रिकालीन आकाश जितना ही मनोरम दिखता था, बुद्धिकी आँखोंसे वह उतना ही रहस्यमय दिखा।

न जाने किस अनादिकालके एक अज्ञात मुहूर्तमें सूर्यमण्डलसे टूटकर वह पृथ्वी नामक ग्रह-पिण्ड सूर्यके चारों ओर चक्कर मारने लगा था। उसमें नाना प्रकारके ज्वलन्त गैसोंका आकर था। इन्हींमें किसी एक या

अनेकके भीतर जीवतत्त्वका अंकुर वर्तमान था। पृथ्वी लाखों वर्षतक ठण्डी होती रही, लाखों वर्षतक उसपर तरल-तप्त धातुओंकी लहाछेह वर्षा होती रही, लाखों वर्षतक उसके बाहर और भीतर प्रलयकाण्ड चलता रहा और जीवतत्त्व स्थिर, अविक्षुब्ध भावसे उचित अवसरकी प्रतीक्षामें बैठा रहा। अवसर आनेपर उसने समस्त जड़ शक्तिके विरुद्ध विद्रोह करके सिर उठाया अंकुररूपमें। सारी जड़ शक्ति अपने प्रबल आकर्षणका सम्पूर्ण वेग लगाकर भी उसे नीचे नहीं खींच सकी। सृष्टिके इतिहासमें यह एकदम अघटित घटना थी। अबतक महाकर्षके विराट् वेगको किसीने प्रतिहत नहीं किया था। जीवतत्त्व निर्भय अग्रसर होता गया। वह एक शरीरसे दूसरेमें सन्ततिके रूपमें संक्रमित होता हुआ बढ़ता ही गया। अनवरुद्ध, अश्रान्त! मनुष्य उसीकी अन्तिम परिणति है देशमें सीमित, कालमें असीम, शरीरसे नाशवान्, आत्मासे अविनश्वर। वही मनुष्य इस समस्त विश्व ब्रह्माण्डकी नाप-जोख करने निकला है। विराट् ब्रह्माण्ड-निकायका दूरत्व और परिमाण, उनके कोटि-कोटि नक्षत्रोंका अग्निमय आवर्तनृत्य बहुत विस्मयकारी बातें हैं, सन्देह नहीं; परन्तु मनुष्यकी बुद्धि और भी विस्मयजनक है। उन समस्त ब्रह्माण्डोंसे अधिक प्रचण्ड शक्तिशाली, अधिक आश्चर्य-जनक। अत्यन्त नगण्य स्थानमें रहकर, नगण्यात् नगण्यतर कालमें बासकर वह इस विपुल ब्रह्माण्डको जाननेकी इच्छा रखता है और सफल होता जा रहा है। वह विश्वकी अजेय शक्ति है। ब्रह्माण्ड कितना बड़ा है यह बड़ा सवाल नहीं है, मनुष्यकी बुद्धि कितनी बड़ी है, यही बड़ा सवाल है। हमारी आस्था उसपर हो गयी है तो कोई बात नहीं कि ब्रह्माण्ड इतना ही बड़ा है या नहीं ब्रह्माण्डमेतन्मितमस्तु नो वा।

# वह चला गया !

वह चला गया । वह ब्रह्मचर्यका विजय-केतन, धर्मका मूर्तिमान् विग्रह, संयमकी धवल पताका, वैराग्यका प्रसन्न वैभव, सत्यका अवतार, अहिंसाका रूप, प्रेमका आकर, कीर्तिका कैलाश, भक्तिका उल्लास हमारे बीचसे चला गया । इतिहासने इतनी क्षीण कायामें इतना बड़ा प्राण नहीं देखा था । धरित्रीने इतने अल्प अवकाशमें इतना बड़ा प्रकाश नहीं देखा था; मनुष्यताने इतना बड़ा विजयोल्लास कभी अनुभव नहीं किया था । वह हँसता हुआ आया, रुलाता हुआ चला गया । तपस्याका शुभ्र हिमालय गल गया, सारा संसार उस शीतल वारिधारासे आर्द्र है । संसारके इस कोनेसे उस कोनेतक एक ही मर्मभेदी आवाज आ रही है वह चला गया, गांधी चला गया !!

वह जिधर मुड़ा, जीवन लहरा उठा; वह जिधर झुका, प्रेम बरस पड़ा; वह जिधर चला, जमाना ढरक पड़ा । वह शक्तिका भण्डार था, क्योंकि वह सच्चे अर्थमें भक्त था । उसने अपने 'रामको' अपना सर्वस्व भेंट कर दिया था इसीलिए वह सब-कुछको अपना सका था । भागवतमें कहा है कि मनुष्य जितना भगवान्को दे देता है, उतना ही उसका अपना होता है, आईनेके सामने जितना मुख बढ़ा दिया जाता है, उतनेकी ही आभा लौटकर आ जाती है । बाकीका कोई अर्थ नहीं । वह निष्फल होता है । जो जितना देता है, उतनेका ही सच्चा अधिकारी होता है

**यद् यद् जनो भगवते विदधीत मानं**

**तच्चात्मनः प्रतिमुखस्य यथा मुखश्री ।**

गांधीजीने अपना सब कुछ ज्ञान, कर्म, भक्ति, मन, प्राण, वाणी, विद्या, बुद्धि, विभव–सब कुछ 'रामको' दे दिया था, इसीलिए इनपर उनका अखण्ड अधिकार था । दुनिया हैरान होकर सोचती है कि इतनी

शक्ति उन्हे मिली कहाँसे ? वह बार-बार धोखा खाकर भी नहीं सीखती। वह मिट्टीके ठीकरोंकी व्यर्थता बार-बार देखकर भी नहीं समझती। वह बाह्य आवरणोंकी नीरसता बार-बार अनुभव करके भी उनसे चिपटती है। हाय, पानीमे वसनेवाली मछलीको प्याससे छटपटाते देखना कितना करुणाजनक हास्यास्पद व्यापार है! कबीरदासने इस अन्धे ससारको इसी प्रकार छटपटाते देख करुणाकी हँसीसे अपना दुःख प्रकट किया था 'पानी बिच मीन पियासी, मोहि देखि-देखि आवे हाँसी!' शक्तिका उत्स बाहर नहीं है, वह भीतर है। कब ससार इस महासत्यको समझेगा? बुद्धने अपने जीवनसे इस ओर ही सकेत किया, ईसाने प्राणोकी आहुति देकर यही सिद्ध किया, और अब गाधीने भी चकित ससारको इसी विशाल सत्यकी ओर उन्मुख किया है।

मनुष्यकी सेवा! वह मनुष्यका सर्वोत्तम सेवक था।

मनुष्य क्या है? आहार-निद्राके साधनोसे प्रसन्न होनेवाला, घर-द्वार-को जुटाकर खुश रहनेवाला, कौडी-कौड़ी जोड़कर माया बटोरनेवाला मनुष्य भी मनुष्य ही है, पर यही सब कुछ नहीं है। मनुष्य पशुका ही विकसित रूप है। पर इसीलिए मनुष्य पशु ही नहीं है। पशुसामान्य धर्म उसमें रह गये है। उनकी पूर्तिसे वह सन्तुष्ट भी होता है, पर यही सब कुछ नहीं है। वह पशुसे भिन्न है, पशुसे उन्नत है। क्योंकि उसमे सयम और तप करनेकी शक्ति है। इन्द्रिय-परायणता पशुसामान्य धर्म है। जितेन्द्रियता मनुष्यकी अपनी विशेषता है। गाधीजीने मनुष्यको इस स्तर-पर ले जानेका प्रयत्न किया था। यही मनुष्यकी सेवा है। उसे अन्न मिलना चाहिये, उसे वस्त्र मिलना चाहिये, उसे ज्ञान मिलना चाहिये; ठीक है, पर यहाँतक आकर रुकना मनुष्यकी सेवा नहीं है। मनुष्यको सयम मिलना चाहिये, जितेन्द्रियता प्राप्त होनी चाहिये, तपस्याकी योग्यता प्राप्त होनी चाहिये। सयम सबका मूल है। दुनियामे भली बात बतानेवाले लोगोंकी कमी नहीं है। व्रतकी, तपकी, शास्त्रकी, अध्ययनकी, धर्मकी, जपकी, समाधिकी, मोक्षकी चर्चा किसने नहीं सुनी? कौन-सा धर्म है

जिसके शास्त्रों और आचार्योंने इनकी चर्चा अपने अनुयायियोंसे नहीं की? पर सुनता कौन है! पानीपरकी लकीरके समान ये बातें उत्पत्तिके साथ ही विनाशकी ओर बढ़ जाती हैं। कोई सुनता ही नहीं। क्यों नहीं सुनता? प्रह्लादने ठीक ही कहा था कि जो इन्द्रियोंको काबूमें नहीं कर सका, जिसे जड़-जगत्के प्रलोभन निरन्तर खींच रहे हैं, जो दम्भमें ही जीवन बिता देता है, वह इन बड़ी बातोंकी ओर नहीं जाता। जाता वही है जो संयमी होता है, जो अपनेको सँभाल सकता है, जो सत्यवादी होता है। अजितेन्द्रियकी प्रवृत्ति उधर नहीं होती

**मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्म-**
**व्याख्यारहोजपसमाधय-आपवर्ग्याः।**
**प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां**
**वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम्॥**

भागवत ८. ९. ४६

हाय, जो महापुरुष चला गया उसने इस रहस्यको समझा था। प्राण देकर भी उसने इस देशके जनसमुदायको बताना चाहा था कि बड़ी साधनाकी पहली शर्त है संयम, आत्म-नियमन। उसने भुजा उठाकर कहा था कि मनुष्यकी सेवाका लक्ष्य है मनुष्यको पशुसामान्य धरातलसे ऊपर उठाना, इन्द्रियवश्यताके पंकसे उबारना, आहार-निद्राकी अपेक्षा बड़ी बात सोचनेकी आदत डलवाना।

वह मनुष्यकी सेवाको उसके सर्वोच्च स्तरपर ले जाना चाहता था। नरकी सेवा नारायणकी सेवा है। मनुष्यको तापतप्त अवस्थासे उबारना अखिलात्मा पुरुषकी सबसे बड़ी आराधना है

**तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।**
**परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥**

भागवत ८. ७. ४४

वह इस स्पर्धा और कुटिलताकी घोर अन्धरात्रिमें चन्द्रमाकी भाँति स्निग्ध आलोक-विस्तार करता रहा। उसने जाति-धर्म-निर्विशेष मनुष्यकी

सेवाका व्रत लिया था, क्योंकि वह अखण्ड सत्यका द्रष्टा था। कबीरकी भाँति उसने समझा था कि जो व्यक्ति सरवसको छोड़कर खण्डका रस चखने जाता है वह तृप्त नहीं होता।

**सरवस छोड़ि खण्ड रस चाखा तृष्णा ताप नसानी।**

जो स्वयं तृप्त नहीं हो सका वह दूसरोंका ताप क्या दूर करेगा? गांधी इस कण्टकाकीर्ण भवकाननका पारिजात था, इस स्नेहशून्य मरुकान्तारका मानसरोवर था, इस ताप-तप्त संसारमें बसनेवाला सजल जलधर था। हाय, हतभाग्य भारतवर्ष, तू आज शोच्य है। तुझे वह रत्न मिला था, जो देवताओंको भी नहीं मिलता। गांधी भारतवर्षके अनेक युगोंके सञ्चित पुण्यका मधुर फल था। आज देश-जननीकी गोद सूनी है, आज वह सचमुच दरिद्र है।

पर धन्य है वह देश; जिसने गांधीको पैदा किया; धन्य है वह भूमि, जिसने गांधीको धारण किया; धन्य है वह जनसमाज, जिसके लिए उसने अपनेको निःशेष भावसे दे दिया। गांधीका आना मङ्गलका सूचक था, जाना किसी महान् भविष्य का सूचक बने। भारतजननी वन्ध्या नहीं है। गांधी गया नहीं है। मनुष्यता थकी नहीं है। यद्यपि चित्त आज उन्मथित है, वाणी रुद्धचेष्ट है, हृदय व्याकुल है, परन्तु गांधीका नाम ही आशाका सञ्चार करता है। निराश होनेकी कोई बात नहीं है। वह चला गया उसका केवल बाह्य रूप ही गया है। वह रह गया है उसका सम्पूर्ण अस्तित्व रह गया है। अन्तरके अन्तरसे आवाज आ रही है, वह गया नहीं है, वह अनन्त शक्तियोंका ज्योतिर्मय पुरुष हृदयके गम्भीरतम गह्वरमें आज भी वर्तमान है। हाँ, वह गया नहीं है यद्यपि विश्वास है कि वह रह गया है, तथापि मन मानता नहीं। कहींसे रुद्ध क्रन्दन बार-बार फट पड़ना चाहता है वह चला गया, हाय, वह चला गया !!

# साहित्यिक संस्थाएँ क्या कर सकती हैं

दिल्लीमे होनेवाली हिन्दी-परिषद्के निमन्त्रणपर जब मैं बोलपुरसे दिल्लीके लिए रवाना हुआ, तो मेरे मनमें कोई स्पष्ट धारणा न थी कि मैं किस कार्यके लिए जा रहा हूँ। मुगलसरायतककी यात्रा तो रातमे ही समाप्त हो गयी। दिन खुलनेके साथ ही साथ हमारी ट्रेन उस प्रदेशके वायुमण्डलको प्रकम्पित करती हुई आगे बढने लगी, जिसे हिन्दी-भाषाका मर्मस्थान कहा जा सकता है। ३५ मील प्रति घण्टेके वेगसे ट्रेन भागती ही गयी, भागती ही गयी; परन्तु इस मर्मस्थलीय प्रदेशका कही ओर-छोर न मिला। रास्तेमे एक ढेला भी इस विराट् मैदानके बीच इस प्रकार स्थित नहीं दिखाई पड़ा, जो हमारी ट्रेनका रास्ता रोकता। इस थका देनेवाली एकता और व्याकुल कर देनेवाली एकघृष्टताका प्रभाव जरूर मेरे मस्तिष्क-पर पड़ता रहा होगा। मैं अनजानमें इस विराट प्रदेशकी बात जरूर सोचता रहा हूँगा। इसीलिए जब कभी छोटी-मोटी नदियोंके पुलोपरसे मेरी गाड़ी 'धड़-धड़ सर्रर्र' करती हुई निकल जाती थी, तो थोड़ी देरके लिए मैं उदास होकर अपनी पुस्तकी विद्याकी आलोचना करने लगता था। मेरे मनमें एक-एक करके हिन्दीके विरुद्ध लगाये गये अभियोग आते जाते, जिनमेसे अधिकाश भाषाशास्त्रीय होते थे। हिन्दी एक भाषा नही है, नाना जातिकी भाषाओंकी पॅचमेल खिचड़ी है, वह राष्ट्र-भाषा होनेके योग्य नहीं है, उसका साहित्य तीसरे दर्जेका है, उसके बोलनेवालोमे कोई सास्कृतिक एकता नही है, और भी न-जाने क्या-क्या। केवल पुस्तकी विद्याके आधार पर रातो-रात भारतीय भाग्यका निपटारा करनेवाले लोग ऐसी बाते कहते भी हैं, उनपर गौर भी करते है, बहस भी करते हैं और हारते-जीतते भी हैं। पर असलमे जिसने एक बार भी कलकत्तेसे दिल्लीतककी यात्रा की हो, उसके लिए इन भाषाशास्त्रीय तर्कवादोका कोई महत्व नहीं है।

भारतवर्ष अगर कहीं है, तो यहाँ अवश्य है। हिन्दी राष्ट्रभाषा है या नहीं, यह बेकारका प्रश्न है। हिन्दी भारतवर्षके हृदयस्थलकी भाषा है, केन्द्रीय भाषा है और भारतीय विचारधाराको प्रकट करनेका सबसे मजबूत माध्यम है। उसके बोलनेवालोंमें एकता नहीं है, तो संसारमें एकता नामक वस्तु कहीं है ही नहीं। और यह दो-तीन बजेतक महुआ जैसी तुच्छ वस्तुको एकत्र करनेके लिए जो जाति बिना खाये-पिये इस वैशाखकी धूपसे लड़ सकती है और फिर गीत गाती हुई लौट सकती है, वह निश्चय ही कर्म-कर्शक और मर्दाने साहित्यको पैदा करनेका सामर्थ्य रखती है।

मेरी ट्रेन कभी छोटे-छोटे नालोंको लाँघते समय एक विशेष प्रकारका फुफकार छोड़ती थी तो बरबस आँखें उधर आकृष्ट हो जाती थीं। इन नालोंकी गहराई, संकीर्णता और सरसताकी पृष्ठभूमिपर जब कोई ग्राम-वधूटी शायद वह तथाकथित छोटी जातियोंकी सन्तान थी नीचे लाल घाँघरा और ऊपर धानी रंगकी चादर और उसके ऊपर भी मुलायम मधूक-पुष्पोंकी टोकरी लिये दीख जाती थी और जब अपने 'भ्रू-विलासा-नभिज्ञ' अपाङ्गोंसे भागती हुई ट्रेनको निहार देती थी, तो हिन्दीके रीति-कालीन साहित्यका खोखलापन मेरे निकट मूर्तिमान हो उठता था। पुस्तकी विद्या हमारी आँखोंको कितना अयथार्थदर्शी बना देती है। रीतिकालीन कविके निकट हमारी शिकायत यही नहीं है कि वह स्त्री-शरीर को इतना महत्व क्यों देता है, बल्कि उससे भी अधिक यह कि उसने स्त्री-रूपको सचमुच क्यों नहीं देखा। तीन बजेतक महुओंको संग्रह करके 'भूँभुरि डाढ़े' पैरोंसे न जाने किन-किन लोगोंके लिए इस वधूने इतना आत्मदान किया है। उसके चेहरेपर कहीं भी असन्तोषका भाव नहीं है। वास्तविक भारतवर्षकी नारी-मूर्ति ऐसी ही है सेवामें, प्रेममें, कर्ममें अपने-आपको हँसते-हँसते खपा देनेवाली। इस ग्राम-वधूटीमें सारा भारतीय स्त्री-समाज प्रतिबिम्बित है। रीति मनोवृत्तिवाले कविने नायिका-भेदका पाठ पुस्तकसे पढ़ा था, जीवनसे नहीं। इसीलिए हर रास्ते चलता भलेमानस यह कहनेका साहस करता है कि हिन्दीका साहित्य तीसरे दर्जेका है। मैं

ऐसा नहीं मानना चाहता। इसीलिए मेरा मन मेरी ट्रेनसे भी कहीं अधिक तेजीसे भविष्यके उस सुनहले युगकी ओर दौड़ पड़ता है, जब हमारा कवि और साहित्यिक सीधे जिन्दगीकी ओर ताकेगा। उस दिनकी सम्भावनाओं की कल्पनासे मेरा मन सिहर उठता था।

विचारोंको फिर एक बार धक्का लगा। कानपुर स्टेशनपर दो खद्दर-धारी युवक आपसमें साहित्यिक आलोचना करते दीख गये। अमुकजीकी कविता कितनी गजबकी होती है, और अमुकजी जब कविसम्मेलनोंमें खड़े हो जाते हैं, तो समा बँध जाता है। ठीक तो है। मैं अबतक पुस्तकी विद्यासे नाराज हो रहा था, पर इन समा बाँधनेवाले अमुकजीका तो उस विद्यासे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। मेरी निश्चित धारणा है कि इन युवकोंमें भी कोई-न-कोई अमुकजी जरूर हैं। ये छितराये हुए केश और धँसी आँखें कवि होनेके सबूत हैं। पर इनकी आलोचनामें भी कहीं पुस्तकी विद्याकी गन्ध नहीं। मैं मन-ही-मन वह व्याख्यान तैयार करने लगा, जो हिन्दी-परिषद्के सामने दूँगा। विचारोंको कागजपर लिख रखनेका प्रयत्न थोडा-थोडा करने लगा। मेरी बुद्धि अब पुस्तकी विद्याके नागपाशसे अपनेको मुक्त न कर सकी। कुछ तो पहलेसे ही लिखा पड़ा था, कुछ नया भी जोड़ने लगा। मेरे सामने उस विषयकी एक निश्चित रूपरेखा तैयार हो गयी। मेरे वक्तव्यका विषय था 'संस्थाएँ क्या कर सकती हैं'। विचार एक दूसरेको ठेलने लगे। धीरे-धीरे सन्ध्या उतरने लगी। हिन्दी-भाषी प्रदेश अब भी विशाल अजगरकी भाँति सामने ही पडा हुआ था। अब भी उसका ओर-छोर नहीं मिल रहा था। ट्रेन भी उकता गयी थी, मैं भी थक गया था और सुदूरके धूसर मैदान अब भी कुछ व्यंग्यकी हँसी-सी हँस रहे थे। अलीगढतक आते-आते पूरी रात हो चुकी थी। मेरा व्याख्यान भीतर-ही-भीतर जारी था। गाड़ी जब रुकी तब भी वह नहीं रुका। इसी समय एक परिचित स्वरने पुकारा 'ज्योतिषीजी!' यह मेरा पुराना उपनाम था। उसने अब मुझे छोड़ दिया है; पर मेरे पुराने मित्रोंने उसे नहीं छोडा है। ज्योतिषीजी! यह एक व्यंग्य-सा लगा।

शायद उसमे उस भावी घटनाकी ओर इशारा था, जो हिन्दी-परिषद्‌मे होनेवाली थी, जब कि मेरा यह यत्न-लालित व्याख्यान सभापतिकी ममताहीन, पक्षपातहीन और द्विधाहीन घंटीकी वेदीपर कुरबान होनेवाला था। मानों मेरे पुराने मित्रने मुझे सजग किया साहित्यिक चिन्ता करनेवाले ज्योतिषी, तुम्हे कुछ भविष्यका भी ज्ञान है ?

अपने मित्रसे मै दो ही मिनट बाते कर सका। अचानक हो जानेवाले साक्षात्कारको केवल दो मिनटमे समाप्त करके हमारी ट्रेन निष्ठुरतापूर्वक भाग खड़ी हुई। इस समय मेरा हृदय कुछ कोमल हो गया होगा, कुछ सवेदनाशील बन गया होगा। शास्त्रपरसे फिर मेरी दृष्टि मनुष्यपर आ गयी होगी; पर मुझे अब कोई परवा नहीं थी। मेरा व्याख्यान समाप्त हो आया था, उसमे मनुष्य प्रधान था, शास्त्र गौण। फिर भी शास्त्ररचनाको महत्त्वपूर्ण कहा गया था ; क्योंकि संस्थाएँ मनुष्य नहीं बना सकती, शास्त्र बना सकती है। और मेरी उस मनःस्थितिमे भावोका जो रूप व्याख्यान बनकर खड़ा हुआ, वह इस प्रकार था:

"मित्रो,

हम जो यहाँ आज एकत्र हुए हैं, उसका उद्देश्य यह नहीं है कि हम हिन्दीको किसी प्रतिष्ठित पदपर बिठावे, बल्कि इसलिए कि वह जिस प्रतिष्ठित पदपर पहलेसे ही आसीन है, उसके योग्य बननेमें जो त्रुटियाँ रह गयी हों, उन्हें सुधारे। हमें किसी प्रकारके भुलावेमें नहीं रहना चाहिये। हिन्दीके विषयमें लिखते-बोलते समय हम राष्ट्र-भाषा शब्दका प्रयोग करते है। यह जान पड़ने लगा है कि यह बात नितान्त भ्रान्तिमूलक है। इस देशकी राष्ट्र-भाषा हिन्दी नहीं, बल्कि एक प्रकारकी कामचलाऊ कृत्रिम भाषा होने जा रही है। वह भाषा उस संस्कृति द्वारा चालित और प्रभावित नहीं होगी, जो हमारे साहित्यका प्राण है। इस बातसे न तो हमें चिन्तित होना चाहिये और न किसी प्रकारकी शिकायत करनी चाहिये। भारतवर्ष न तो केवल हिन्दुओका देश है और न केवल हिन्दी-भाषियोंका। इसकी राष्ट्रभाषामे विभिन्न संस्कृतियों, भाषाओं और समुदायोंका साम्प्रदायिक प्रति-

निधित्व रहे, तो हमे झगड़नेकी कोई जरूरत नही है। इसीलिए हमारे मनसे यह भ्रान्ति सदाके लिए दूर हो जानी चाहिये कि जिस प्रतिष्ठित पदपर हिन्दी बैठ चुकी है, वह राष्ट्रभाषाका पद है। उस राष्ट्रभाषा-पद अर्थात् राजनीति, व्यवसाय तथा अन्यान्य बातोंके सौकर्यके लिए गढ़ी हुई एक पॅचमेल कृत्रिम भाषाके पदके लिए आपको तपस्या करनेकी विशेष जरूरत नही है। कामचलाऊ चीज अपने-आप बन जाती है। रेलवे स्टेशनोपर वह बन चुकी है, कलकत्तेके बाजारमे वह चल निकली है! केन्द्रीय सरकारके हुक्मनामोमे भी बिना आपकी सहायताके ही वह रूप-परिग्रह कर लेगी।

आप पूछ सकते हैं कि फिर वह प्रतिष्ठित पद क्या है, जिसपर हिन्दी आसीन हो चुकी है। वह यही है कि हिन्दी आज भारतवर्षके हृदयमें वर्तमान प्रदेशोकी मातृभाषा है, करोड़ों नर-नारियोकी आशा-आकाक्षा, अनुराग-विराग और रुदन-हास्यकी भाषा है। उसीमे वह शक्ति है जो भारतवर्षके सार-भागके दुःख-सुखको प्रकट कर सकेगी। सक्षेपमे, यह भारतीय महाद्वीपकी केन्द्रीय भाषा है। भारतवर्षकी राष्ट्र-भाषा अगरेजी हो या हिन्दुस्तानी नामधारी गढ़ी हुई भाषा ; लेकिन जो बात निर्विवाद है, वह यह कि भारतवर्षकी केन्द्रीय भाषा वह भाषा, जिसका आश्रय लिये बिना कोई आन्दोलन, चाहे वह धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक हो, असफल होनेको बाध्य है हिन्दी है। उसमे साहित्य लिखनेका अर्थ है भारतवर्षके तीन चौथाई आदमियोंकी मानसिक शक्तिको उत्तेजित करना, उनके चरित्रका निर्माण करना और भारतवर्षके भाग्यको विशेष दिशाकी ओर ले जाना। हम इसी कार्यके लिए यहॉ एकत्र हुए है। उस भाषाको दृष्टिमे रखकर ही साहित्य-निर्माण करना है। अगर यही भाषा राष्ट्र-भाषा बना दी गयी, तो हमे खुशी ही होगी, और इसे अगर राष्ट्र-भाषा नहीं माना गया, तो हमे नाराज होनेकी कोई जरूरत नही रहेगी।

"हमें एक दूसरे प्रकारके भ्रमका शिकार भी नहीं होना चाहिये। सभा-सोसाइटियोका सघटन करके और उनमे पार्टियॉ खड़ी करके हम हल्ला

चाहे जितना कर लें, साहित्य नहीं बना सकते। साहित्य देशके कोनोंमें बिखरे हुए लोग अलग-अलग बैठकर लिखते हैं। सभा करके आप उनको सम्मान दे सकते हैं, शक्ति नहीं; प्रोत्साहन दे सकते हैं, प्रतिभा नहीं। मौलिक साहित्यके रचयिता प्रायः सभाओंके सञ्चालक नहीं हुआ करते, इसलिए इस सभाको संघटित करनेके लिए हम लोगोंको अपना कर्त्तव्य भी स्पष्ट रूपसे समझ लेना चाहिये। हमें किसी प्रकारकी गलत दुराशाको अपने मनमें आश्रय नहीं देना चाहिये।

"हमें साहित्यका निर्माण आजकी परिस्थितिको देखकर नहीं करना है। समय बड़ी तेजीसे बदल रहा है। आजसे दस वर्ष बाद हिन्दी भारतवर्षकी सबसे अधिक साहित्य-शून्य भाषा लगेगी, इसलिए नहीं कि वह अन्यान्य प्रान्तीय भाषाओंसे पिछड़ी हुई है, बल्कि इसलिए कि उसके प्रयोजन अत्यधिक हैं। लाखों वर्गमीलमें फैले हुए करोड़ों आदमियोंकी साहित्यिक और वैज्ञानिक पिपासा मिटानेका महान् व्रत उसे लेना है। इतनी बड़ी जिम्मेदारी किसी अन्य भाषाकी नहीं है। हमारे अन्दर जो कुछ भी गाम्भीरता है, उसके साथ हमें सोचना होगा कि समयके भागते हुए वेगसे हिन्दीकी गतिका सामञ्जस्य किस प्रकार होगा ?

"आप मौलिक रचयिताओं अर्थात् कवियों, औपन्यासिकों और कहानीकारोंको नहीं बना सकते; पर ऐसे बुद्धिमान युवक आपके देशमें भरे पड़े हैं, जिन्हें उपयुक्त नेतृत्व और साधन मिलें, तो साहित्यको नाना प्रकारकी परिचितिमूलक पुस्तकोंसे भर सकते हैं। जिस साहित्यमें भिन्न-भिन्न संस्कृतियों, इतिहासों, कलापरिचायक ग्रन्थों, मनोवैज्ञानिक और मानव-विज्ञानादि शास्त्रोंकी पुस्तकें नहीं हैं, उसमें आजके युगमें उपयुक्त हो सकनेवाला कवि या नाटककार हो ही नहीं सकता। ये शास्त्र ही कविके दिमागको उर्वर बनाते हैं। प्राचीन साहित्यका मेरुदण्ड पौराणिक कथाएँ थीं, आजके साहित्यकी रीढ़ विज्ञान और इतिहास है। कविता और नाटकके क्षेत्रोंको सूना देखकर आह भरनेवाले ठीक उसके कारणको हृदयङ्गम करते, तो पहले इन विषयोंकी पुस्तकके अभावपर ही दुःख

प्रकट करते। अबतक हमारे कवि और अन्य कलाकार इन विषयोंका ज्ञान विदेशी भाषाके माध्यमसे पाते रहे है। इसीका नतीजा यह है कि इस विदेशी माध्यमसे अपरिचित हिन्दीभाषीको इनका अर्थ समझमे नही आता। आधुनिक कविताको अगर आप हिन्दीमे देखना चाहते है, तो पहले विज्ञान, संस्कृति, इतिहास, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, समाज-विज्ञान आदिको देखनेकी इच्छा प्रकट कीजिये।

"आजतक हमारे वृद्ध और प्रौढ साहित्यिक युवकोकी रचनाओंको लघुताकी दृष्टिसे देखते रहे हैं। सारे संसारमे ऐसा ही हुआ है। ये वृद्ध और प्रौढ़ साहित्यिक भी किसी युगमे अपने वृद्धो द्वारा इसी दृष्टिसे देखे गये थे, परन्तु सारे संसारमे जो कुछ हुआ है, वही हमे दुहराना नहीं है। संसारके समृद्ध साहित्य धीरे-धीरे बने हैं। हमे शीघ्रता करनी है, इसीलिए हमारे वृद्धो और प्रौढ़ साहित्यिकोंके दृष्टिकोणको भी बदल जाना चाहिये। मै अपने व्यक्तिगत अनुभवके बलपर कह सकता हूँ कि इस दृष्टिकोणके बदलनेपर बहुत बड़ा कार्य सिद्ध होगा। आज सजनीवाद और हाला-वादकी सस्ती भावुकतासे आप्लावित साहित्यिकोंको यह जान लेनेकी जरूरत है कि ये ही सस्ती भावुकताके शिकार तरुण हमारे साहित्यकी वास्तविक शक्ति हैं। आप इनके भीतर कुछ कर गुजरनेकी लगनको देखिये, उसे उपयुक्त दिशामें नियोजित कीजिये और तब आप देखेगे कि ये युवक असाध्य-साधन कर सकते है। इनमेसे अधिकांशका क्षेत्र कहानी या कविता लिखना नही है, यद्यपि उनमें रचनात्मक शक्ति पूरे जोर-पर है। ये नहीं जानते कि वे किस क्षेत्रमे सफल हो सकते है उन्हे यह भी नही मालूम कि क्षेत्र क्या क्या है। जिन्हे मालूम है, उन्हे साधन नही प्राप्त है। सम्मेलनो और परिषदोके कर्णधारोको चुन-चुनकर इन युवकोंसे काम लेना चाहिये, उन्हे कर्तव्य-निर्णय करनेमे सहायक होना चाहिये। यदि सभा-सोसाइटियाँ यह नही करतीं, तो उनके होनेका कोई औचित्य नहीं हो सकता। केवल साहित्यिक विवादोको बढ़ाकर हम साहित्यकी कोई सेवा नहीं कर सकते।

"मैं अपनी संकीर्ण चिन्तनशक्ति और सीमित अनुभवसे कोई ऐसा निष्कर्ष नहीं निकाल सकता, जो आप सबको स्वीकार्य हो। फिर भी उनकी ओर इशारा कर देनेसे शायद कुछ लाभ हो। इसी उद्देश्यसे यहाँ उनकी ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

"मित्रो, मैं ऐसे अनेक साहित्यिकोंको जानता हूँ जिनकी कृतिसे उनकी भाषाका साहित्य धन्य हो रहा है, परन्तु जो स्वयं साहित्य-क्षेत्रमें आनेसे हिचकते थे, या आनेका सुयोग ही नहीं पा सकते थे। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने उन्हें स्नेहपूर्वक पुकारा। उन्होंने उनके द्वारा बताये कार्यको हाथमें लिया और आज अपने-अपने क्षेत्रके वे दिक्पाल माने जाते हैं। पण्डित विधुशेखर शास्त्रीके लिए कविने चीन और तिब्बतसे पुस्तकें मँगा दीं, विद्वान् बुलवाये और शास्त्रीजी आज संसारके महायान-शास्त्रज्ञोंमें अन्यतम गिने जाते हैं। शास्त्रीजीके मुँहसे ही सुना है कि अगर गुरुदेवने कृपा न की होती, तो वे हजारों संस्कृतके शास्त्रियोंमेंसे एक होते। श्री हरिचरण बन्द्योपाध्याय, जिन्होंने बँगला भाषाका सबसे बड़ा कोष लिखा है और इस कार्यमें अपनी जवानीके तीस सुनहले वर्ष लगा दिये हैं, पहले कविकी जमींदारीके एक २५) माहवार पानेवाले मुनीम थे। कविने उन्हें देखकर ही अपने मैनेजरसे कहा था कि तुम्हारा मुनीम मुझे दूसरे कामके योग्य जान पड़ता है, उसे शान्तिनिकेतन भेज देना। आपके सुपरिचित अध्यापक क्षितिमोहन सेन यद्यपि पहलेसे ही घुमक्कड़ प्रकृतिके सन्त थे, तथापि कविके स्नेहने उनको आज भारतवर्षका अन्यतम सन्त-विशेषज्ञ बना दिया है। बाबू जगदानन्द राय कविकी जमींदारीके एक और क्लर्क थे, जो पारस पत्थरके संस्पर्शमें आकर ऐसा कार्य कर गये हैं, जो जबतक बँगला जीती रहेगी, तबतक अविचल बना रहेगा। उन्होंने विज्ञानकी हर शाखापर बच्चोंके योग्य साहित्य लिखा है। इनमेंसे कइयोंका अनुवाद हिन्दीमें भी हुआ है। मैं नामोंको गिनाकर आपको थका देनेका अपराध नहीं करूँगा, पर हिन्दीके प्रौढ़ और वृद्ध साहित्यिकोंसे निवेदन करूँगा; कि वे भी इसी उदारताके साथ नये युवकोंको उत्साहित करें। वे देखेंगे

कि दस वर्षमे हिन्दीका कोई भी क्षेत्र लहलहानेसे बाकी नही रह गया है।

"परन्तु मै एक बातकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट किये विना नही रह सकता। वृद्धोका स्नेह और सभाओकी सहायतासे जो युवक ग्रन्थ लिखेगे, उनका उत्साह तबतक अक्षुण्ण नहीं रख सकते जबतक उनकी रचनाओके प्रकाशित करनेकी व्यवस्था नही करें। युवक काम करना चाहता है; पर साथ ही अपनी रचनाओको प्रकाशित भी देखना चाहता है। अगर उसकी रचना प्रकाशित नहीं हुई, तो उसे बड़ा धक्का लगता है। आपकी सभाएँ इस विषयमे भी उसे सहायता दे सकती है। वे प्रकाशकोसे सम्बन्ध रख सकती है, उन्हे अभिनव विषयोकी पुस्तकोंको प्रकाशित करनेकी ओर उत्तेजित कर सकती है और प्रकाशित होनेपर उनके प्रचारका भी उपाय कर सकती हैं।

"साथ ही मैं उन लोगोसे भी निवेदन करना नहीं भूलूँगा, जो सौभाग्यवश हिन्दी-भाषाके साहित्यका प्रकाशन कर रहे है। उन्हे भी आजसे दस वर्ष बादकी अवस्था सोचकर ही पुस्तके प्रकाशित करनी चाहिये। इस विषयमे उन्हे साहित्यिको और साहित्यिक संस्थाओके साथ सहयोग करना चाहिये। येन-केन प्रकारेण पैसा कमा लेना कोई बड़ी बात नहीं है; किन्तु साहित्यका प्रकाशित करना निश्चय ही बड़ी बात है। यह एक पवित्र कर्तव्य है, समाजके प्रति एक महान् उत्तरदायित्वका पालन करना है। उन्हे सदा स्मरण रखना चाहिये कि छोटा दिल लेकर बड़ा कार्य नही किया जा सकता। साहित्यका प्रकाशन इतना पवित्र और इतना बड़ा कार्य है कि उसके लिए विशालसे विशाल हृदयकी आवश्यकता है। इस बातकी सख्त जरूरत है कि ऐसे विषयोपर पुस्तके प्रकाशित की जायँ, जो केवल मनोरञ्जक ही नहीं, ज्ञान और सम्पत्तिके बढानेमे सहायक हो।

"मै कुछ ऐसे विषयोंकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, जिनके अभावमे हमारा साहित्य कभी फल-फूल नही सकता। वृद्धोको इन विषयोंके लिए प्रोत्साहन देना चाहिये, सभाओको आदमी चुनने चाहिये और इसके अध्ययनको सुलभ करनेकी व्यवस्था करनी चाहिये

और प्रकाशकोंको इन्हे प्रकाशित करना चाहिये। यह सर्वजनविदित बात है कि इस शताब्दीमें और वह भी विशेष करके महायुद्धके बाद विज्ञानकी नाना शाखाओके अध्ययन और प्रयोगसे आधुनिक विचार-धारा अत्यधिक प्रभावित हुई है। नये शोध-अध्ययन और प्रयोगने केवल नये ज्ञानोकी वृद्धि ही नहीं की है, उससे कहीं अधिक किया है। उसने समूचा दृष्टिकोण ही उलट दिया है। डार्विनके जीव-विज्ञान सम्बन्धी खोजोसे प्रोत्साहन पाकर और बहुत-कुछ उसीके ऊपर निर्भर करके भौतिकवाद और यान्त्रिकताने पिछली शताब्दीकी मनोवृत्तिको अभिभूत कर दिया था। महायुद्धके बाद, प्रो० विलियम रोजके शब्दोमें, वे उन विचारोंके लिए स्थान खाली करते जान पड़ रहे हैं जिनके सम्बन्धमें भय है कि कहीं रहस्यवादके अतल गर्भमे निमज्जित न हो जायें। फिर भी वह वस्तु जिसे वैज्ञानिक और तत्त्वज्ञ लोग 'मैटर' कहते हैं, जो प्रकृतिकी विवृति है, जो गुण-संघात है, यह जैसा था वैसा ही बना हुआ है। हमारे दृष्टिकोणके परिवर्तनसे उस वस्तुमे परिवर्तन नहीं हो सकता है, और मनुष्य अपने समस्त वैज्ञानिक प्रयोगो और तत्त्वचिन्ताओ द्वारा केवल एक ही महालक्ष्यकी ओर बड़े वेगसे धावित हो रहा है। वह महालक्ष्य है अपनी ही सत्ता और प्रकृतिका रहस्योद्घाटन और उस विश्वके साथ अपने सम्बन्धका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना जिसकी एक अप्रतिहन्यमान और क्रियात्मक शक्ति वह स्वय है। इस महालक्ष्यको सामने रखकर हम अपने साहित्यका निर्माण कर सकते है। इसकी पूर्तिके लिए विचार करे, तो ५ पदवियोको अतिक्रम करनेकी जरूरत है

समग्र मानव-समाज उसका संघटन, जीवन और अन्तर्हित एकता।

व्यष्टिरूपसे मनुष्य उसका अन्तर्निहित प्राण, मन, आत्मा।

जीवनी शक्ति मनुष्यके भीतर और बाहर, मनुष्य और अन्य जीवोंका पारस्परिक सम्बन्ध।

भौतिक विज्ञान शक्ति, उसकी परिणति और रूपान्तरीभवन।

रसायन-शास्त्र मैटर, उसका परिवर्तन।

"इन्ही पाँच मुख्य विषयोंसे नाना शाखा-प्रशाखाएँ फूटी है और भविष्यमे निरन्तर फूटती जायँगी । मानव-बुद्धि जितना ही इनको पकड़नेके लिए हाथ-पैर मारती जा रही है उतना ही ये अपने विराट् रूपको बढ़ाते जा रहे है । मानव-बुद्धिरूपी सुरसाके सब कौशल इस विज्ञानरूप हनूमान्के सामने प्रतिहत हो रहे है । फिर भी मनुष्य हारा नहीं है । वैज्ञानिक शाखाएँ इतनी अधिक विस्तृत हो गयी है कि एक आदमीके लिए सबका अध्ययन तो सम्भव नहीं है, किसी एक शाखाका सम्पूर्ण अध्ययन भी असम्भव है । उत्तरोत्तर उप-शाखाओंकी विशेषता प्राप्त करनेके प्रयत्न बढते जा रहे हैं ।, शाखाएँ और उपशाखाएँ एक दूसरेसे विच्छिन्न होती जा रही हैं, यद्यपि एक दूसरीके बिना आगे बढ़ भी नही सकती । ऐसा जान पडता है कि केवल एक ही बात इनको परस्पर मिला सकेगी । वह यह कि इन सबकी भूमिकामे मनुष्यका मस्तिष्क है ।

"शुरूमे ही मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यहाँ मै विज्ञानो और उनकी शाखाओंके प्रयोगमूलक अध्ययनोके प्रस्तुत करनेकी बात नही करूँगा । यह काम विज्ञान-परिषद्के जिम्मे ही रहे,तो अच्छा हो । आजके युगमे ये बाते किस अवस्थातक पहुँच चुकी है, कौनसे सिद्धान्त उन्होंने निश्चय किये हैं, इत्यादि विषयक जानकारीका सग्रह करना ही हमारा उद्देश्य है । मेरे प्रस्तावित विषय ये हैं

१. दर्शन और विज्ञानकी आरम्भसे लेकर अबतककी प्रगतिका विवेचन ।
२. धर्म-विज्ञान और परमात्म-स्वरूप ।
३. विश्वकी जड़ प्रकृति ।
४. ज्योतिर्विज्ञानकी अबतककी पहुँच ।
५. गणितशास्त्रकी प्रकृति ।
६. सापेक्षवाद ।
७. जीव-विज्ञानने मानव-जातिकी अग्रगतिमे क्या सहायता पहुँचायी है ।

८. जीव-विज्ञानका रहस्यमय पहलू।
९. यौन-विज्ञान।
१०. जनसंख्याका प्रश्न।
११. मनोविज्ञान।
१२. मनोविश्लेषण-शास्त्रके सिद्धान्त।
१३. नैतिकता और संस्कृतिका उद्गम और विकास।
१४. मानव-जातिका विभाजन और विविध रेसोंके विशेष लक्षण।
१५. पुरातत्वने क्या किया है।
१६. दर्शन-शास्त्रकी आधुनिक विचारधाराएँ।
१७. अर्थ-शास्त्रका असली स्वरूप।
१८. सम्पत्ति-विस्तार।
१९. उद्योग-धन्धोंके संघटनके आधुनिक विचार।
२०. राजनीतिक संघटनोंके सिद्धान्त और व्यवहार।
२१. इतिहासका वैज्ञानिक रूप।
२२. वैज्ञानिक दृष्टिकोण।
२३. आधुनिक भौगोलिक परिकल्पना।
२४. साहित्यमें आधुनिकता।
२५. चित्रांकन, मूर्तिशिल्प और वास्तुकलाकी विवेचना।
२६. संगीतका स्वर-विज्ञान।
२७. सभ्यताके लक्षण।

"इन सत्ताईस विषयोंपर आप दो-दो, चार-चार पुस्तकें लिखायें, तो हिन्दी भाषी जनताको आधुनिक जगत्‌को देखनेकी आँख देंगे। ये पुस्तकें विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिसे लिखी जानी चाहिये। किसी प्रकारकी प्रचारक वृत्तिका सम्पूर्ण अभाव होना ही श्रेयस्कर होगा। अँगरेजीमें इन विषयोंपर लोक-बोधगम्य बहुत-सी पुस्तकें छपी हैं। एक ही पुस्तकमें विभिन्न पण्डितोंकी लिखी हुई इन और इनसे सम्बद्ध विषयोंकी रचनाएँ बहुत मिलेंगी। विशेषज्ञ लोग अगर इन पुस्तकोंका निर्वाचन कर दें, तो आसानीसे उनका अनुवाद करा सकते हैं।

"मैंने ऊपर आधुनिक शास्त्रोंकी बातें की हैं; पर मैं और भी अधिक

जोर देकर आपको प्राचीन ग्रन्थोंके हिन्दी अनुवाद करनेकी बातकी सिफारिश करूँगा। आजकल हम इस दिशासे केवल काम बन्द ही नहीं किये बैठे हैं, जो लोग कहीं-कहीं कुछ कर रहे हैं, उनकी उपेक्षा भी कर रहे है। राहुलजी और उनके मित्रोने पालीके ग्रन्थोंका अनुवाद करके हिन्दी साहित्यको जितना समृद्ध किया है, वह कहकर नहीं समझाया जा सकता। जैन-ग्रन्थोके अनुवाद और सम्पादनमें पण्डित सुखलालजी, मुनि जिनविजयजी आदि महात्माओने जो श्रमसाध्य, तपस्यामूलक कार्य किया है, उस ओर किसी साहित्यिक संस्थाने ताकना भी उचित नहीं समझा है। महायान बौद्धधर्मके एक भी ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ। किसी भी संस्कृतके उच्चकोटिके दार्शनिक, आलंकारिक और धार्मिक ग्रन्थका पण्डितजनोचित अनुवाद शायद ही हुआ है। गीता प्रेससे शांकरभाष्यका और नागरी-प्रचारिणी सभासे रसगंगाधरका अनुवाद निकला है। उनके लिए हमें लेखकों और प्रकाशकोंका कृतज्ञ होना चाहिये, परन्तु इतनेसे क्या हमारा आँसू पुँछ गया! न्याय, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य आदिके सैकड़ों प्रामाणिक ग्रन्थ क्या अँगरेजी और जर्मनमे अनूदित होनेके लिए ही लिखे गये थे? संस्कृत और प्राकृतके काव्यों और नाटकोंके कितने अनुवाद आपके पास हैं? हिन्दी-भाषाकी भयंकर दरिद्रता इस क्षेत्रमे अक्षम्य है। सारे संसारके विद्वान् हिन्दी-भाषी पण्डितोंसे पढकर इन ग्रन्थोंका अनुवाद, व्याख्या आदि लिखकर अपनी-अपनी भाषाके साहित्य भर रहे हैं और हमे पता भी नहीं है। यह असह्य अवस्था है। मेरा विचार है कि हिन्दीकी संस्थाएँ हिन्दी-साहित्यका अंश बहुत ही संकीर्ण कर देती हैं। हिन्दीके पुराने ग्रन्थोंका सम्पादन और टिप्पणी-लेखनतक ही हमारे साहित्यिक शोध सीमित हैं। हमें दृढ़तापूर्वक अपना शोध-क्षेत्र विस्तृत करना होगा। नागरी-प्रचारिणी सभाने इस दिशामे रास्ता दिखाया था। आप उस दिशामें और भी दृढ़तासे चले, यही मेरी प्रार्थना है।"

दिल्ली आ गयी थी। मुझे और बातोंकी फिक्र करनी थी। मैं उतर पड़ा।

# हम क्या करें ?

## हिन्दी : साध्य या साधन ?

सबसे पहले यह भली भाँति समझ लेनेकी जरूरत है कि हिन्दी भाषा और साहित्य हमारा साध्य ही नहीं, साधन भी है, बल्कि हमारी वर्तमान परिस्थितिमें हममेंसे अधिकांशके लिए साधन अधिक है, साध्य कम। हिन्दी-की प्रतिद्वन्द्विता न तो किसी प्रान्तीय भाषासे ही है और न संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओंसे ही। आजसे कई सौ वर्ष पहले जो स्थान संस्कृतका था और आज जो स्थान अँगरेजीका है, हिन्दी उसीकी अधिका-रिणी है। वह संसारके समस्त व्यावहारिक और पारमार्थिक ज्ञान-विज्ञान और यावत् विषयोंको करोड़ों आदमियोंतक पहुँचानेका साधन बनना चाहती है। भारतवर्षमें आंशिक रूपसे किसी युगमें संस्कृत इस कार्यको करनेमें समर्थ हो सकी थी, पर वह पण्डितोंकी भाषा थी और इसलिए जहाँ वह तत्तद् विषयोंको योग्यतापूर्वक आलोचित कर सकी, वहाँ करोड़ों-तक तो क्या, हजारोंतक पहुँचानेमें भी असमर्थ रही। अँगरेजी विदेशी भाषा है, इसलिए वह भी यह कार्य उस योग्यताके साथ इस देशमें नहीं कर सकी, जिसके साथ इंगलैण्ड आदि देशोंमें वह करती है। हिन्दीका दावा है कि वह इन दोनों भाषाओंके दोषोंसे मुक्त है। संस्कृतके समान वह केवल पण्डितोंकी भाषा नहीं है, फिर भी संस्कृतकी समस्त सम्पत्तिकी वह अपनी अन्यान्य भगिनी भाषाओंकी भाँति स्वाभाविक अधिकारिणी है। दूसरी तरफ अँगरेजीकी भाँति वह विदेशी भाषा नहीं है, यद्यपि एक ही युगमें पैदा होनेके कारण वह अँगरेजीके उन सभी गुणों को आत्मसात् करने-का उचित दावा रखती है जिन्हें युग-धर्मने अँगरेजीमें आरोपित किया है।

यह नितान्त भ्रम है कि फारसी या अरबी भाषा भी कभी इस देशमें उसी प्रकार सांस्कृतिक, पारमार्थिक और व्यावहारिक विषयोंके विवेचनका

साधन रही है, जिस प्रकार संस्कृत भाषा थी या अँगरेजी भाषा है। यह जरूर है कि एक अत्यन्त सीमित कालमें ( जो संस्कृतिकी विशाल परम्परा-की तुलनामें अत्यन्त नगण्य है ) फारसी अदालतोंकी भाषा थी और फारसीसे मिली हुई हिन्दी बाजारकी भाषा थी, पर इतना ही भर। उन दिनों भी संस्कृत भाषा ही भारतवर्षकी दर्शन, ज्योतिष, चिकित्सा, व्याकरण, न्याय, धर्म (कानून) आदि सांस्कृतिक और पारमार्थिक विषयों-की सूक्ष्म विवेचनाकी भाषा थी और आज भी उसने अपना यह दावा छोड़ नहीं दिया है। आज भी संस्कृतमें इन विषयोंपर ग्रन्थ लिखे जा रहे है, टीका-टिप्पणी की जा रही है और निष्ठापूर्वक पठन-पाठन हो रहा है। कुछ दिनोंसे अँगरेजी भाषा इन विषयोंके विवेचनका भार भी लेनेकी तैयारी कर रही है, और अगर आज भी हिन्दी इन विषयोंको उससे नहीं छीन लेती, तो अगली दो-तीन पीढ़ियोंतकके लिए ही नहीं, आगेके लिए भी वह परमुखापेक्षी ही होकर रहेगी।

एक तरफ हजारों वर्षोंकी भारतीय ज्ञान-परम्परा और दूसरी तरफ आधुनिक युगकी हजारों योजन-व्यापी जनसमुदायकी विराट् चिन्तन-धाराका वाहन हिन्दीको बनाना है। इसीलिए आजकी परिस्थितिमें हिन्दी-साहित्य हमारे लिए साध्यकी अपेक्षा साधन अधिक है। संस्कृत और अँगरेजीके आसनकी योग्य और उचित अधिकारिणी यह भाषा केवल कविता और कहानी लिखनेवालोंकी ही सम्पत्ति नहीं है। उससे कहीं बड़ी है, कहीं व्यापक है, कहीं शक्तिगर्भा है। इस बातको समझे बिना जो सभाएँ की जाती हैं वे नितान्त उपहासास्पद, संकीर्ण और उथली होती है। इन सभाओंमें न तो संस्कृतके प्रसिद्ध विद्वान् और विश्वविद्यालयोंके साधना-शील विद्वान् आवश्यक समझे जाते हैं और न वे दिलचस्पी ही लेते है। इसका कारण केवल यही है कि मन-ही-मन हम हिन्दी-साहित्यको साध्य अधिक समझते है, हिन्दी-भाषाको साधन कम। यह वाछनीय नहीं है।

## 'हिन्दीवाला' : एक विचित्र विशेषण

व्यक्तिगत रूपसे मुझे यह विशेषण अजीब-सा लगता है। हिन्दी

बोलनेवाला आदमी इसका विशेष्य हो सकता है, और जब बंगाली या गुजराती लोग किसीको 'हिन्दीवाला' कहें, तो बात समझमें आ भी सकती है हालाँकि हमलोग किसी बंगालीको या गुजरातीको 'बँगला-वाला' या 'गुजरातीवाला' न कहकर सीधे बंगाली या गुजराती ही कहते है। लेकिन जब हिन्दी बोलनेवाले किसीको 'हिन्दीवाला' कहते हैं, तो बात अजीब हो जाती है। 'कैमिस्ट्रीवाला', 'फिजिक्सवाला', 'साहित्य-वाला' समझमे आ सकते हैं, क्योंकि इनके विशेष्य वे लोग है जो संसारके किसी कोनेमे इन विषयोका अध्ययन-मनन कर रहे हैं। 'संस्कृतवाला' या 'लैटिनवाला' भी ठीक है। पर स्टेनकोनोको 'पोलिशवाला', मैक्समूलरको 'अँगरेजीवाला' या बोगलको 'डचवाला' और के० पी० जायसवालको 'अँगरेजीवाला' कहना क्या ठीक है? ये विद्वान् जिस किसी भाषामे अपने विषयको क्यों न लिखें, ये 'पुरातत्त्ववाले' या 'भारतीय विद्यावाले' हैं। फिर भी जयचन्द्र विद्यालंकार और राहुल सांकृत्यायन 'हिन्दीवाले' क्यों कहे जायँ ? क्या इसलिए कि ये जिस भाषामे लिखते हैं उसमे भाषा ही प्रधान होती है, विषय गौण ? या क्या वे अपने विषयमें इसी विषयके पण्डित समझे जानेवाले अन्यान्य पण्डितोसे घट कर हैं ? दोनों ही बाते गलत हैं। सही बात यह है कि हमारी मानसिक कमजोरी ऐसी है कि हम मन-ही-मन ऐसा समझते है कि अँगरेजी या जर्मनमें ही उक्त विषय-की प्रामाणिक पुस्तकें निकलती हैं और हिन्दीमें लिखना उक्त विद्वानोकी कमजोरीका परिचायक है। हम स्वीकार करें या नही, हमारे मनमे यह दुर्बलता है, और हमने यह विचित्र विचार-पद्धति स्वीकार की है कि अँगरेजी भाषामें लिख सकनेकी अक्षमता ऐसी बडी कमजोरी है जो किसीको योग्य नहीं होने देती। कम-से-कम हिन्दीमें जो कुछ भी कोई लिखे, उसे अपने ही प्रान्तमें 'हिन्दीवाला' कहना (जब कि कहनेवाला स्पष्ट अपनेको अ-हिन्दीवाला समझता रहता हो) इस बातका परिचायक जरूर है कि हम हिन्दीको साधन और विषयको साध्य न मानकर हिन्दीको साध्य और विषयको साधन मानते हैं। श्री जयचन्द्रजीको

इतिहासका विद्वान् न कहकर 'हिन्दीवाला' कहनेका अर्थ कुछ ऐसा है कि वे इतिहासकी साधना नही कर रहे है, हिन्दीकी साधना कर रहे है, और इतिहास नही, तो और कोई विषय ही उपलक्ष्य बनाकर वे हिन्दी जरूर लिखते रहेंगे, इतिहास लिखना चाहे छोड दें।

फिर सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश आदि भाषाओंके पडितोकी तरह 'हिन्दी-भाषाका पण्डित' एक सीमित अर्थमे ही प्रयोज्य शब्द है। संस्कृत आदि भाषाएँ साधन हो सकनेकी शक्ति खो चुकी है, जब कि हिन्दीमें साधन होनेकी शक्ति पूरी मात्रामे वर्तमान है, और प्रत्येक नया दिन हमे यह महसूस करायेगा कि यह भाषा साधन होनेकी ओर बडे वेगसे धावमान है, और इस कार्यके लिए जिस प्रचण्ड शक्तिकी जरूरत है वह उसमें पूरे जोरपर है। ऐसी हालतमें इन भाषाओंके साथ हिन्दीको एक हदतक ही बैठाया जा सकता है। वह हद है हिन्दीके प्राचीन साहित्यकी जानकारी। आधुनिक युगके पूर्वका समस्त (व्रजभाषा और अवधी आदिका) साहित्य प्राकृत और अपभ्रशके प्राचीन साहित्यकी भाँति ही प्राच्य-विद्याका अग है, जब कि हरिश्चन्द्रके बादका साहित्य ससारके आधुनिक साहित्यका अग है। दोनोमें प्रधान भेद यह है कि पहलेमे भौगोलिक सीमाएँ और राष्ट्रीय सस्कृतिका प्राधान्य है, जब कि आधुनिक साहित्य क्रमशः भौगोलिक सीमाओसे अनाबद्ध और राष्ट्रीय सस्कृतिसे अनवरुद्ध होता जा रहा है। सस्कृतका सवाल प्राकृत, अपभ्रंश और प्राचीन हिन्दीसे थोडा भिन्न भी है, जो विद्वानोके निकट काफी स्पष्ट है और इसलिए उसकी चर्चा यहाँ छोड़ दी जा रही है। सक्षेपमे यह समझ लेना चाहिये कि सस्कृत आज भी बहुत दूरतक नाना प्रकारके ज्ञान-विज्ञानकी चर्चाका साधन बनी हुई है, पर हर सालके आँकड़ोसे स्पष्ट है कि वह तेजीसे यह रूप छोडती जा रही है।

ऊपरकी बातका सीधा अर्थ यह है : १. हिन्दीके रीतिकालतकका साहित्य उस 'भारतीय विद्या'की जातिका है, जिसे अँगरेजीमे 'इंडोलाजी' कहते है, २. यदि उक्त (प्राचीन हिन्दी) साहित्यके निर्माता हमारे

'अपने' हैं, तो ठीक उतने ही 'अपने' प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन मराठी, प्राचीन बँगला, तामिल आदिके निर्माता भी हैं। ये सभी एक ही श्रेणीमें आते हैं। जिन स्थानोंपर हमारे स्थानीय सम्मेलन हों, उनमें यदि ऐसे किसी साहित्य-स्रष्टाकी साधनाभूमि हो, तो स्थानीय कार्यकर्ताओंको उनके दर्शन और परिचय करानेकी जरूर व्यवस्था करनी चाहिये। उदाहरणार्थ, काशीमें यदि सम्मेलन हो, तो सम्मेलनकी स्वागत-समितिको तुलसीदास और कबीरदासके स्थानोंके दर्शन करने-करानेकी व्यवस्था करानेका आयोजन करना जितना जरूरी है, उससे किसी अंशमें भी कम नहीं है नागेश भट्ट या मधुसूदन सरस्वतीके स्थानोंका। जितना ही हम इस दिशामें अग्रसर होंगे, उतना ही हम अपनी प्रिय भाषाकी वास्तविक शक्ति और अपनी वर्षीयसी संस्कृतिकी अमर महिमा अच्छी तरह हृदयंगम कर सकेंगे। जबतक हम ऐसा नहीं करते तबतक हमारा दृष्टिक्षेत्र व्यापक नहीं हो सकता और न हमारी काम करनेकी प्रेरणा गम्भीर और स्थायी होगी। ऐसा न करके हम मानो अप्रत्यक्ष रूपसे स्वीकार कर लेंगे कि 'हिन्दी' का आन्दोलन एक अत्यन्त सीमित कार्यक्षेत्रका आन्दोलन है और हमारा साहित्य-सम्मेलन बहुत कुछ 'ओरियण्टल कान्फरेन्स' हिन्दी-विभागका एक स्वतन्त्र और अधिक-से-अधिक ज्यादा मजबूत रूप है। जबकि होना यह चाहिये कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके एक अंगमात्रका रूप ओरियण्टल कान्फरेन्स है, जिसे इस देशवालोंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारके लिए संघटित किया है।

## हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और ओरियण्टल कान्फरेन्स

सारे भारतवर्षके प्राच्य-विद्याव्यायियोंकी एक सभा है, जो नियमित भावसे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनकी भाँति ही भारतवर्षके भिन्न-भिन्न नगरोंमें प्रतिवर्ष बुलायी जाती है। इसीका नाम ओरियण्टल कान्फरेन्स है। इसकी कारवाई अँगरेजीमें होती है और भारतीय विद्यासे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत-से छोटे छोटे इसके विभाग हैं। चूँकि 'भारतीय विद्या' आज सारे संसारके अध्ययन और चर्चाका विषय है, इसलिए कान्फरेन्सका, जिसकी

आलोचनाका माध्यम अँगरेजी हो, वहुत जबरदस्त प्रयोजन है। मैंने ऊपर जो कुछ लिखा है उसपर बहुत-से पाठक यह सन्देह कर सकते हैं कि मैं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनको एक दूसरे 'ओरियण्टल कान्फरेन्स'के रूपमें देखना चाहता हूँ। सही वात यह है कि दुर्भाग्यकी विडम्बनासे आज जो स्थान इस देशमें यहाँकी भाषामें की गयी आलोचनाका होना चाहिये था, वह नहीं है। कोई भी यह उम्मीद नहीं करता कि भारतीय विद्याओंके सम्बन्धमें जर्मनोंने जो कुछ जर्मन भाषामें लिखा है, वही कम महत्वका है, और जो कुछ अँगरेजीमें लिखा है, वही ज्यादा महत्वका है। पर इस देशमें विचित्र वात है। सभी मानते हैं कि इस देशकी भाषाओंके विषयमें जो कुछ इस देशकी भाषामें लिखा गया है, वह नगण्य है, और अँगरेजीमें जो कुछ लिखा गया है, वही श्रेष्ठ है! पर आज दुर्भाग्यकी चाहे जैसी भी विडम्बना क्यों न हो, एक दिन अवस्था जरूर वदलेगी और हिन्दीमें की गयी चर्चा निश्चय ही अपना उचित आसन पायेगी। ओयरिण्टल कान्फरेन्स उस दिन भी जरूरी होगी, क्योंकि वहुत दिनोंतक हमें अँगरेजीके माध्यमसे विदेशमें वातचीत करनी पड़ेगी, और उस दिन हमारा यह कहना सत्य दिखेगा कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन उक्त कान्फरेन्ससे वड़ी और जवरदस्त संस्था है, क्योंकि इसका मूल पृथ्वीमें है, जहाँसे प्रतिकूल अवस्थाओंमें भी वह प्रचुर खाद्य संग्रह कर रहा है। उस दिन इसी सम्मेलन-वृक्षके चुने हुए फूल उक्त कान्फरेन्स विदेशी अतिथियोंको समर्पण करेगी। वह दिन दूर नहीं है।

परन्तु जब मैं हिन्दी साहित्य-सम्मेलनको वड़ी संस्था कहता हूँ, तो इससे भी अधिक समझता हूँ। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन उक्त कान्फरेन्सकी भाँति केवल अतीत साहित्यकी समस्याओंकी आलोचना-भूमि नहीं है, वह वर्तमान और अनागत समस्याओंपर भी विचार करता है, और उसका यह रूप यद्यपि क्षीण है, फिर भी प्रतिवर्ष अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है। वह भावी साहित्यको जो संसारका एक सबसे शक्तिशाली और स्वास्थ्यदाता साहित्य होगा वनानेका स्वप्न देखता है। वह भावी राष्ट्रका और साथ

ही भावी कालका निर्माण करना चाहता है। वह उस अदृष्टमूल अंकुरको सींच रहा है, जो संसारका एक महान् छायादायक वृक्ष होनेवाला है। हमें इसी दृष्टिसे सम्मेलनको देखना चाहिये।

## काशी-सम्मेलनका अनुभव

गत वर्ष काशीमें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हुआ था। मैं इस सम्मेलनमें जानेका अवसर खोज रहा था और पण्डित बनारसीदासजीकी प्रेरणासे जानेमें समर्थ भी हुआ। फिर भी मैंने कभी यह नहीं सोचा था कि मैं उसमें कुछ क्रियात्मक हिस्सा लेने जा रहा हूँ। मैं बिल्कुल अध्ययन करनेकी इच्छासे गया था और यथाबुद्धि वह अध्ययन कर भी सका। वहाँ बहुतसे साहित्य-साधक, साहित्य-व्यवसायी और साहित्य-दलालोंसे मिलने का सौभाग्य हुआ। मेरे लिए यह एक नया अनुभव था। मैं नयी पीढ़ीमें दुर्दमनीय साधनाका अंकुर देख सका, वृद्धोंमें तरुणोचित उत्साह अनुभव कर सका और साधारण जनतामें हिन्दीके प्रति प्रेमाध आशंकाका भाव भी लक्ष्य कर सका, लेकिन मैंने अत्यन्त स्पष्ट देखा कि यह सारा उत्साह लक्ष्यहीन है। भविष्यमें हमें क्या करना या होना है, इस विषयमें यदि साहित्यप्रेमियोंमें ऐकमत्य होता तो, गरमागरम बहसें और लम्बी-लम्बी वक्तृताएँ इस प्रकार व्यर्थ न की जातीं और विरोधी दलोंमें किसी एक-न-एक बातपर जरूर समझौता हो जाता। हममेंसे अधिकांश जो एक दूसरेको न समझ सके, इसका प्रधान कारण यह था कि असलमें हम अपने-आपको ही नहीं समझ सके थे।

काशीके हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके विषयमें मैंने बहुत-से लिखित और कथित विचार पढ़े और सुने हैं; अधिकांशमें शिकायतका स्वर ही ऊँचा है। मैं समझता हूँ, सम्मेलनके विषयमें इस प्रकारकी टीका करनेवाले उसके साथ न्याय नहीं करते। सम्मेलन एक जबरदस्त शक्तिशाली संस्था है, और उसका काशीवाला अधिवेशन तो उसकी अद्भुत शक्तिका बड़ा ही सुन्दर परिचायक था। दोष उसमें इतना ही था कि उससे अधिकांश कार्यकर्ता (और बाहर से आये हुए प्रतिनिधि भी) अपने सामान्य लक्ष्यको मूल-से

गये थे। सम्मेलनका कवि-सम्मेलन उसके किस उद्देश्यकी पूर्ति लिए था, यह समझमे नहीं आता। मनोरंजन उसका उद्देश्य हो सकता है, पर सम्मेलन मनोरंजनके लिए नहीं बुलाया जाता। काव्य-विद्याकी चर्चा या आधुनिक काव्यगत प्रश्न उसमे विचारार्थ उपस्थित ही नहीं हुए। कवियोंमेसे कितने ही ऐसे थे, जिन्होने कलम पकड़नेका व्यवसाय अभी शुरु ही किया था। प्रथम दिनके कवि-सम्मेलनमे भगवान्‌की कृपासे पण्डित देवीदत्त शुक्ल जैसे सरल प्रकृतिके सर्वजनश्रद्धेय विद्वान् सभापति न होते, तो जाने कैसी लड़ाई छिड जाती। फिर भी कविता सुननेवालों और दाद देनेवालोंने उनकी वृद्धता, विद्वत्ता और सरलताका लिहाज कम-से-कम किया। प्रसादजीका एक नाटक भी किसी अज्ञात उद्देश्यकी सिद्धिके लिए खेला गया था। उसके लिए स्टेजपर जो पर्दे लगाये गये थे, उनके साथ 'काशी-कला-भवन' की मार्जित रुचिका कोई सामजस्य नहीं था। प्रसादजीके गुप्तकालीन नाटकके साथ तो उसका सामंजस्य और भी कम था। कभी-कभी तो आश्चर्य होता था कि हमारे अनेक गण्य-मान्य शुक्लकेश वृद्धजन उस मत्स्यगधी नारियोके पर्देसे सजे हुए रंग-मंचपर बैठनेको राजी कैसे हो गये! क्यों नहीं शुरूमे ही कहा गया कि इस पर्देपर पर्दा डाल दिया जाय? फिर बीच-बीचमे आदरणीय राय-कृष्णदासजीकी ओर दृष्टि घूम जाती थी कि किस प्रकार उन्होने इसे बर्दाश्त किया! नीले-पीले रगोसे गुँदे हुए उस पर्देका होना समस्त हिन्दी-साहित्यकारोकी रुचिपर प्रश्नवाचक चिह्न था। क्या ही अच्छा होता; यदि कला-भवनकी दो-चार गुप्तकालीन मूर्तियोंके अनुलिखन वहॉ लगाये गये होते। आश्चर्य होता था कि मैदागिनकी चौमुहानीपर जो फाटक बनाया गया था, उसकी कल्पना जिस आदमीके दिमागमे आयी थी, उससे क्यो नहीं राय ली गयी? इस विचित्र स्टेजपर आ आकर जब हिन्दीकी अविमिश्र शुद्धताके विषयमे गरमागरम व्याख्यान होते थे और प्रस्ताव पास होते थे, तो सम्मेलनका समस्त असामजस्य मूर्तिमान हो उठता था। इस सामंजस्यहीन, लक्ष्यहीन सम्मेलनके आयोजनके पीछे एक दुर्दमनीय

शक्ति थी। उस शक्तिका प्रदर्शन हुआ, पर नियोजनकी ओर कम ध्यान दिया गया। काशी जैसी संस्कृत-सम्पन्न नगरीकी कोई विशेषता मुश्किलसे वहाँ विद्यमान थी।

इस समस्त जंजाल-जालके भीतर कई बड़ी ही दिव्य विभूतियाँ सम्मेलनके रंगमंचपर दिख रही थीं। ये सब एकमत तो नहीं थे, पर अपने-अपने दृष्टिकोणसे वे हिन्दीके भविष्यको हस्तामलककी भाँति देख रहे थे। सारी गरमागरम बहसों और आशंकाप्लावित पुकारोंसे निर्लिप्त थे। कोई भी सम्मेलनका दर्शक इनको सारी भीड़से अलग कर सकता था सर्वश्री पुरुषोत्तमदास टण्डन, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, काका कालेलकर, बाबूराव विष्णु पराड़कर और राजेन्द्रप्रसाद इत्यादि। यद्यपि हमने कविवर मैथिलीशरण गुप्तको कभी मंचपर नहीं देखा; पर उनकी अनन्य साधारण पगड़ी उन्हें दर्शकोंसे अलग कर रही थी। आश्चर्य होता था कि यह 'पगड़ी' टिकी कैसे है। अब गिरी, अब गिरी और फिर भी दुरुस्त ! सबके पैर छूनेको ललकती हुई और फिर भी सबके ऊपर। निश्चय ही उस ऊपरसे श्लथ दिखनेवालीपगड़ीके भीतर कोई जबरदस्त ताकत थी। वह वर्षाकी नदी नहीं थी, उसकी धारा गहराईसे पोषण पा रही थी। सम्मेलनके व्याख्यान जब हमारी व्यक्तिगत रुचि-अरुचिको भीड़की मनोवृत्तिका शिकार बना दिया करते थे, तब इन तपोनिष्ठ व्यक्तियोंकी ओर देखनेसे चित्त शान्त हो जाता था। ना, हिन्दी वन्ध्या नहीं है, हिन्दीको शंकित होनेकी जरूरत नहीं है, हिन्दी रत्नगर्भा है। मुझे इस विषयमें कोई भी सन्देह नहीं रहा कि सम्मेलन साहित्य-स्रष्टा पैदा नहीं कर सकता, वह केवल उनका सम्मान ही कर सकता है। परन्तु यह निश्चित है कि साहित्य-स्रष्टाओंकी एकान्त साधना ही उसे महिमान्वित कर सकती है, गरमागरम बहसें नहीं। सम्मेलन को अगर ठीक-ठीक रास्तेपर जाना है, तो साहित्यकारोंका सम्मान करे, साहित्यका प्रचार करे, साहित्य-सृष्टिके साधनोंका आयोजन करे, जनताकी मनोवृत्ति साहित्यिक बनावे। सम्मेलनकी परीक्षाएँ ऐसा ही कर रही हैं, पर सम्मेलनको

और भी आगे बढ़कर पुस्तकालयोंका संघटन करना चाहिये, कोशों और विश्वकोशोंका निर्माण करना चाहिये, प्राचीन और अर्वाचीन पुस्तकोंका अनुवाद करना चाहिये, विद्या-विषयक व्याख्यानोंकी व्यास्था करनी चाहिये। यही रास्ता है।

## "साहित्य-सेवाका अधिकार सभीको है!"

एक तरुण साहित्यिकने मुझसे सम्मेलनमे बातचीतके प्रसंगमे कहा था कि 'साहित्य-सेवाका अधिकार सबको है!' मैं उनकी नेकनीयती और सरलताका प्रशंसक हूँ। आये दिन कविता और नाटककी पुस्तकोंकी भूमिकामे नाना आलंकारिक शब्दोंमें यह कहा जाता है कि साहित्य-सेवाका अधिकार सबको है। कभी-कभी यह रूपक इस प्रकार प्रकट किया जाता है 'आपके हाथमे जो पुस्तक है, वह साहित्य-क्षेत्रके एक अनाड़ी मालीकी रचना है!' पुस्तक खोलकर पढिये, तो आपको इस कथनमें रचमात्र भी सन्देह नही रह जाता। हाय-हाय, इस अनाडी मालीने सभी फूल उखाड़ डाले, केवल कॉटे ही छोड़े हैं! सही बात यह है कि साहित्य कोई गढकुण्डेश्वरके पुदीनेका बगीचा नही है कि विन्ध्याटवीमे भ्रमण करनेवाला प्रत्येक अराजकतावादी जन्तु उसमे नाक घुसेडे। उसमे एक शृखला है, एक विधान है, एक उद्देश्य है, एक साधना है। 'साहित्य-सेवाका अधिकार सबको है', यह ठीक है; पर साहित्य सेवाका अर्थ पुस्तक लिखना ही नही है। साहित्यकीसेवा करनेके बहुतसे रास्ते है। नागरी-प्रचारिणी सभाके पुस्तकालयमें झाड़ू देनेवाला बहुतेरे कलम घिसनेवालोसे कही अधिक साहित्य सेवा करता है, और नित्य झाड़ू लेकर गन्दगी साफ करनेका आदर्श उपस्थितकर वह पुस्तकालयका उपयोग करनेवाले साहित्यिकोंको सच्चा मार्ग दिखाता है। 'सम्मार्जनी-चालना' सचमुच ही वहाँ 'समालोचना' से बड़ी बात है। सो, साहित्य-सेवा और पुस्तक-लेखनका परस्पर पर्यायवाची हो जाना साहित्यके लिए बड़ा खतरनाक है। पुस्तक उन्हींको लिखनी चाहिये, जिन्होने पुस्तक लिखनेकी साधना की हो। जिन्हे लिखी जानेवाली विद्यासे पूरा परिचय हो। नही तो अनाड़ी मालियो-

की सेवासे बगीचा ही बर्बाद हो जायगा । ऐसे दुमदारसे लँडूरे ही भले !

## पुरानी और नयी रीति-मनोवृत्ति

एक बार मुझे मध्य-भारतके एक नगरकी साहित्यसमितिमें जा पडनेका सौभाग्य हुआ था । उस दिन छायावादी कवितापर कोई बहस थी । बहस बडी मजेदार और साथ ही पाण्डित्यपूर्ण थी । परन्तु मुझे आश्चर्य हुआ कि आधुनिक कविताके प्रशंसक रीति-मनोवृत्तिके बुरी तरह शिकार थे । पन्त और प्रसादके प्रत्येक प्रयोगको अलकारशास्त्रके कठोर नियमोसे विशुद्ध सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया । निस्सन्देह ऐसा सिद्ध कर दिखानेवाले पण्डित थे । पर मैं सोचता रहा कि रीतिकाल तो अब भी अपने बीच जी रहा है । किसी काव्यके वाक्यो और वाक्यांगोको परम्परा-समर्थित सहृदयताकी कसौटीपर कस देना ही क्या कविताकी सच्ची प्रशंसा है ? क्या काव्यको जीवनकी विशाल पट-भूमिकापर रखकर देखनेका युग हिन्दीमे अब भी नही आया है ? दिल्ली और मेरठकी हिन्दी-परिषदोंमे मुझे एक दूसरी बात देखनेको मिली । वहॉ कुछ मित्र आधुनिक अंग्रेजी समालोचकों और दार्शनिकों द्वारा प्रयुज्यमान कितने ही रूपहीन चिन्ताओंके परिचायक शब्दोंसे साहित्य-रसके आस्वादन करानेका प्रयत्न कर रहे थे । मैं वहॉ भी सोचता रहा कि क्या यह नयी रीति मनोवृति नहीं है ? क्या इन अर्वाचीन अलकारोंसे साहित्यको मापनेकी आदत पहलेसे कुछ अच्छी है ? क्यो न आजका हिन्दी-साहित्य अपने ढगसे अपनी जीवन-व्यापिनी साधनाओंको देखे ? जब कभी इन दोनों आदतोंकी बात सोचता हूँ तो यही समझमे आता है कि 'अरे इन दोउन राह न पायी !'

## हम क्या न करें ?

"हम क्या करे ?'के अनेक उत्तर हैं । 'हम क्या न करे ?'का एक । हम ऐसा कोई काम न करें, जिससे हमारी प्रिय भाषाका उदीयमान सम्मान-भाव कम हो । असयत, निरुद्देश्य, ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध रचनाएँ निश्चित रूपसे उसके लिए हानिकारक हैं । विभिन्न भाषाओसे सोच-समझकर ही उदाहरण देना उचित है । हमारे वृद्ध और लब्धप्रतिष्ठ लेखक भी

जब मामूली-सी बातोंकी प्रामाणिकता बढ़ानेके लिए अन्य देशों और अन्य भाषाओंके छोकरोंकी अटसट बातें उद्धृत किया करते हैं, तो इस भाषाकी महिमा निश्चित रूपसे क्षुण्ण होती है। अदूरदर्शी पादरियोंकी लिखी पोथियोंसे जब हम अपनी रचनाओंकी प्रामाणिकता बढ़ानेका हास्यास्पद प्रयत्न करते हैं, तो निस्सन्देह इस भाषाका अपमान करते हैं। उपनिषदोंके उद्धरण भी जब हम अंग्रेजीमें उद्धृत करते हैं, तो अपने ज्ञानका दिवाला प्रकट करते हैं और रूसी, जापानी आदि ग्रन्थकारोंका मत भी अंग्रेजीसे ज्योंका-त्यों उद्धृत करके न जाने हम क्या करते हैं! हिन्दी एक अत्यन्त शक्तिशाली जनसमुदायकी मातृभाषा है। उसको अपनी हरकतोंसे उपहासास्पद बनानेवाला अक्षम्य अपराधी है। यह हमें भूलना नहीं चाहिये।

# धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्

भारतीय धर्म-साधनाका इतिहास बहुत जटिल है। साधारणतः इस धर्म-मतका अध्ययन करनेके लिए वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्यका अध्ययन किया जाता है। अबतक हमारे पास जो भी पुराना साहित्य उपलब्ध है वह आर्य-भाषाओंमें लिखित साहित्य ही है फिर चाहे वह संस्कृतमें लिखा गया हो या पालीमें या प्राकृतमें। परन्तु एक बार यदि हम भारतीय साहित्यको सावधानीसे देखें और भारतीय जनसमूहको ठीक-ठीक पहचाननेकी कोशिश करें तो साफ मालूम होगा कि केवल आर्य भाषाओंमें लिखित साहित्य कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो इस देशकी जनताके विश्वासों और धर्म साधनाओंकी जानकारीके लिए वह पर्याप्त बिलकुल नहीं है। आर्योंकी पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आर्येतर जातियाँ इस देशमें रहती हैं और उनमेंसे अधिकांश धीरे-धीरे आर्य-भाषाभाषी होती गयी हैं। इन जातियोंकी अपनी पुरानी भाषाएँ क्या थीं और उन भाषाओंमें उनका लिखित या अलिखित साहित्य कैसा था, यह जाननेका साधन हमारे पास बहुत कम बच रहा है। यह तो अब माना जाने लगा है कि आर्योंसे भी पहले इस देशमें महान् द्रविड़ सभ्यता वर्तमान थी, उस सभ्यताके अनेक महत्वपूर्ण उपादान बादमें भारतीय धर्म-साधनाके अविच्छेद्य अंग बन गये हैं; पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। द्रविड़ सभ्यताका सम्बन्ध सुदूर मिस्र और बैबिलोनियातक स्थापित किया जा सका है और यद्यपि अब धीरे-धीरे पण्डितोंका विश्वास होता जा रहा है कि द्रविड़ जाति (रेस) की कल्पनाकल्पना-मात्र ही नहीं है, पर एक समृद्ध आर्यपूर्व द्रविड़ सभ्यताकी धारणा और भी पुष्ट हुई है।

इधर निषाद या कोल-भाषाओंके अध्ययनसे एक बिलकुल नयी बातकी और पण्डित मण्डलीका ध्यान आकृष्ट हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि

इन कोल-भाषा-भाषी लोगोंकी जो अबतक जंगली समझकर उपेक्षा की गयी थी वह एकदम अनुचित और निराधार थी। इन भाषाओंका सम्बन्ध आस्ट्रेलिया और एशियामें फैली हुई अनेक जनभाषाओंसे स्थापित किया गया है और यह विश्वास दृढ हुआ है कि आजके हिन्दू समाजमें अनेक जातियाँ हैं जिनका मूल निषाद ( आस्ट्रो-एशियाटिक या आस्ट्रिक) जातियोंमें खोजना पड़ेगा। हमारे अनेक नगरोंके नाम इस भाषासे लिये गये हैं, खेती-बारीके औजार और अन्य उपयोगी शब्दोंके नाम इन भाषाओंके आर्यरूप हैं और हिन्दू धर्ममें श्रद्धा और सम्मान पानेवाले बहुतसे विश्वास मूलतः निषाद जातियोंमें हैं। प्रो० सिल्वालेवी और उनके प्रज्लुस्की आदि शिष्योंने जिन थोड़ेसे भाषाशास्त्रीय तत्त्वोंका रहस्य-उद्घाटन किया है उनके आधारपर अनुमान किया जा सकता है कि हमारे अनेक धर्म-विश्वासोंका मूल भी इन जातियोंमें खोजा जा सकता है।

पिछले कुछ वर्षोंमें सभी आर्येतर विश्वासोंको द्रविड़-विश्वास कह देनेकी प्रवृत्ति बढ गयी है। इस प्रकार शिव और विष्णुकी पूजा भी द्रविड़-विश्वास है, पुनर्जन्म और कर्मफलमें विश्वास भी द्रविड़ सभ्यताकी देन है और वैराग्य और कृच्छ्र तपपर जोर देना भी द्रविड़-विश्वास है। पर अब इस प्रकारकी बातोंकी अधिक छानबीनकी आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। सभी आर्यपूर्व और आर्येतर विश्वास द्रविड-विश्वास ही नहीं हैं और कोई भी बात हो सकती है। सभी आर्यपूर्व और आर्येतर विश्वासोंका मूल खोजना कठिन है।

हमारे देशके इतिहासका बहुत बड़ा विरोधाभास यह है कि अपेक्षाकृत नये ग्रन्थ अपेक्षाकृत पुरानी बातोंको भी बता सकते हैं। इस प्रकार कूर्मपुराणकी रचना छान्दोग्य उपनिषद्के बादमें हुई है, परन्तु इसलिए यह जरूरी नहीं कि कूर्मपुराणमें कही हुई सभी बातें छान्दोग्यमें कही हुई सभी बातोंसे नयी ही हों। हो सकता है कि इस पुराणमें संगृहीत कुछ बातें छान्दोग्यसे भी पहलेकी हों। जैन आगमोंका संकलन बहुत बादमें हुआ है, पर इसीलिए यह नहीं कहा जा सकता कि इन आगमोंमें

संकलन-कालके पूर्वकी बातें नहीं हैं। यही नहीं, यह भी हो सकता है कि एक अत्यन्त परवर्ती हिन्दी पुस्तकमें किसी अत्यन्त पुरानी परम्पराका विकृत रूप उपलब्ध हो जाय। इस विरोधाभासका कारण क्या है, यह हमें अच्छी तरह जान लेना चाहिये।

जैसा कि बताया गया है कि इस देशमें अनेक आर्यपूर्व जातियाँ थी। उनकी अपनी भाषाएँ थीं और अपने विश्वास थे। आर्योंको इन जातियोंसे पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा था। पुराणोंमे असुरों, दैत्यों और राक्षसोंके साथ इन प्रचण्ड संघर्षोंकी कथा मिल जाती है। यह इतनी पुरानी बात है कि इन संघर्षशील जातियोंको देवयोनिजात मान लिया गया है। कुछ पण्डित ऐसा विश्वास करने लगे हैं कि विश्वव्यापी जलप्रलयके पूर्वकी ही ये घटनाएँ होंगी। इस महाप्रलयका वर्णन सभी देशोंके साहित्यमें पाया जाता है, भारतीय साहित्यमे तो है ही। कहा जाता है कि इस महाप्रलयमें बहुत कुछ नष्ट हो गया और बची हुई मानवजातिको नये सिरेसे संसार-यात्रा शुरू करनी पड़ी। इस जलप्रलयके पूर्वकी सभी जातियोंको 'देवता' मान लिया गया है। उनमें जो ज्यादा तामसिक मानी गयीं उन्हें राक्षस, असुर आदि पुराने नामोंसे ही पुकारा गया पर इन शब्दोंसे अर्थ दूसरा ही लिया गया। इन तामसिक शक्तियोंको भी देवयोनिजात मानकर इनमें अनेक अद्भुत गुणोंकी कल्पना की गयी। मैं स्वयं इस मतको सन्देहकी दृष्टिसे ही देखता हूँ पर इसमें सन्देह नहीं कि संघर्ष बहुत पुराने और प्रायः भूले हुए जमानेके परम्परालब्ध कथानक हैं।

ये जातियाँ धीरे-धीरे आर्य-भाषाभाषी होती गयी हैं। कुछ तो अन्त तक आर्य-भाषाभाषी नहीं बन सकीं और पहाड़ों, जंगलों और दूरवर्ती स्थानोंमें आश्रय लेकर अपनी भाषा और धर्मविश्वासोंको कथंचित् जिलाये रख सकीं। जो लोग आर्य-भाषाभाषी हुए उन्होंने अपने विश्वासोंको आर्यभाषाके माध्यमसे कहना शुरू किया। इन वेदबाह्य धर्म-साधनाओंका संस्कृतमें आना बहुत बड़े विचार-संघर्षका कारण हुआ। सन् ईसवीकी प्रथम सहस्राब्दीमें ही इस संघर्षका आभास मिलने लगता है। सातवीं-

आठवीं शताब्दीमें तो किसी मतको वेदबाह्य कहकर लोकचक्षुमें हीन करनेकी प्रवृत्ति अपने पूरे चढ़ावपर मिलती है और उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होकर प्रकट हुई है।

इस प्रतिक्रियाको न तो हम श्रमण-संस्कृतिका प्रभाव कह सकते हैं और न इसे वेदसम्मत मत कहनेका ही कोई बहाना है। यह स्पष्ट रूप से वेदविरोधी है। हम इसे वेदबाह्य श्रमणेतर संस्कृति कहना चाहें तो कोई हानि नहीं है।

साधारणतः वेदबाह्य भारतीय धर्मका प्रसंग उठनेपर बौद्ध और जैन मतोंकी बात ही स्मरण की जाती है। परन्तु एक अन्य भावधारा भी इस देशमें काफी प्रबल थी जो वेदबाह्य भी थी और श्रमण-संस्कृतिसे भिन्न थी। इस वेदबाह्य श्रमणेतर संस्कृतिके विषयमें अभी विशेष आलोचना नहीं हुई है, क्योंकि एक तो इसका साहित्य बहुत कम बच पाया है, दूसरे जो साहित्य बचा भी है उसपर परवर्ती कालका रंग भी चढ़ गया है।

विक्रमकी सातवीं-आठवीं शताब्दीके बाद हिन्दू आचार्योंमें एक ही विशिष्ट प्रवृत्ति पायी जाती है। वे किसी मतको जब हेय और नगण्य सिद्ध करना चाहते हैं तो उसे वेदबाह्य या श्रुतिविरोधी घोषित कर देते हैं। सातवीं-आठवीं शताब्दीके बाद धीरे-धीरे इन वेदबाह्य और श्रुति-विरोधी घोषित किये गये सम्प्रदायोंमें अपनेको वैदिक और श्रुतिसम्मत कहनेकी प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए सबसे अचूक अस्त्र यह समझा गया है कि जो व्यक्ति वेदबाह्य कहे उसीको वेदबाह्य कहकर छोटा बना दिया जाय। शंकराचार्यने पाशुपतोंको वेद-बाह्य कहा था और बादमें शंकरको 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहानेका अपयश भोगना पड़ा। परवर्ती साहित्यमें एकमतका आचार्य विरोधी दूसरे मतको प्रायः ही वेदबाह्य कह देता है।

परन्तु जहाँ कुछ मत अपनेको वेदसम्मत सिद्ध करनेका प्रयत्न करते रहे वहाँ कुछ ऐसे भी मत थे जो अपनेको खुल्लमखुल्ला वेदविरोधी मानते

रहे। कापाल, लकुल, वाममार्गी तथा अन्य अनेक शाक्त और शैव मत अपनेको केवल वेदविरोधी ही नहीं मानते रहे बल्कि वेदमार्गको निम्नकोटिका भी समझते रहे। इनके ग्रन्थोंमे प्रत्येक वेदविहित मतको और नैतिक आदर्शको हीन बताया गया है और अत्यन्त धक्कामार भाषामे आक्रमण किया गया है।

यद्यपि अन्ततक ये मत अपना वेदविरोधी स्वर कायम नहीं रख सके, शुरू-शुरूमे इनके धक्कामार और तिलमिला देनेवाले वचनोंकी पारमार्थिक व्याख्या की गयी और बादमें उन्हे विशुद्ध श्रुतिसम्मत मार्ग सिद्ध किया गया।

उत्तरकी अनेक आतियाँ और अनेक सम्प्रदाय इन आर्य-पूर्व सभ्यताओंकी स्मृति वहन करती आ रही हैं। इन सम्प्रदायोंके अध्ययनसे हमे अनेक भूली बातोंकी जानकारी प्राप्त होगी।

यह समझना ठीक नहीं कि वर्तमान युगमे प्रचलित लोकजाति और लोक-कथानक तथा विभिन्न जातियो और सम्प्रदायोंकी रीति-रस्मे हमें केवल वर्तमानकी ही बात बता सकती हैं। हो सकता है कि ये हमे घने अन्धकारको भेद सकने योग्य प्रकाश दे और हम अतीतके कुज्झटिकाच्छन्न कालमे पैठ सके।

मनुष्यके उत्थान-पतनका इतिहास बडा मनोरञ्जक है। न जाने कितने मूलोसे मनुष्यने अपना धर्म-विश्वास सञ्चय किया है। जातिगत और सम्प्रदायगत संकीर्णताओंसे जर्जरित कालमे यदि हम जान सके कि मनुष्य कितना ग्रहणशील प्राणी है, वह किस निर्मयताके साथ संस्कृतिके साथ चिपटे हुए सडे छिलकोंको फेंकता आया है और किस दुर्वार शक्तिसे अन्य श्रेणियोंके सत्यको ग्रहण करता आया है तो यह कम लाभ नहीं है। भारतीय धर्म-साधनाका इतिहास इस दिशामे बहुत सहायक है।

हमारा वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य बहुत विशाल है। बहुत बड़े देश और बहुत दीर्घ कालको व्याप्त करके यह साहित्य लिखा गया है। देश और कालका प्रभाव इसपर सर्वत्र है। इनके निपुण अध्ययनसे तत्का-

लीन अन्य मतोंका भी कुछ आभास पाया जाता है। यह भी पता चलता है कि किस प्रकार ये मत अन्य मतोंसे प्रभावित होकर नया रूप ग्रहण करते आये हैं। जो लोग धर्म-मतको अनादि और सनातन मानते हैं वे भूल जाते हैं कि सभी धर्म-विश्वास बदलते रहे हैं, कभी-कभी उनके स्थान-पर एकदम नवीन विश्वासने प्रतिष्ठा पायी है और कभी-कभी उनमें थोड़ा संस्कार हुआ है और उन्हें नया रूप प्राप्त हो गया है।

शास्त्रमें कहा है 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'। यह कथन ऐतिहासिक अर्थमें सत्य है। केवल धर्मग्रन्थोंके अध्ययनसे हम नहीं समझ सकते कि हमारे विश्वासोंका वर्तमान रूप किस प्रकार प्राप्त हुआ है। और भी पारिपार्श्विक परिस्थितियोंका ज्ञान होना चाहिये। पुरातत्त्व, भाषाविज्ञान, नृतत्त्वविज्ञान और इतिहासकी अविच्छिन्न धाराका ज्ञान भी आवश्यक है। नाना स्तरोंमें विभाजित हमारी सम्पूर्ण जनता ही हमारे अध्ययनका मुख्य साधन है। धर्मका तत्त्व और भी गहराईमें है। वह सचमुच ही गुहामें निहित है। उस अन्ध-तिमिरावृत गुहामें जो भी प्रकाश पहुँचा सके वही धर्म-साधनाके विद्यार्थीके लिए सम्माननीय है।

# मनुष्यकी सर्वोत्तम कृति : साहित्य

जिस दिन छोटे-से जीव-कणने जड़ प्रकृतिके साथ विद्रोह किया था, उस दिन सृष्टिके इतिहासका नया अध्याय शुरू हुआ था, पर उससे भी बादका अध्याय उस दिन शुरू हुआ, जिस दिन मनुष्यने जीव-सृष्टिमे अपना अद्वितीय स्थान अधिकृत किया। मनुष्य और मनुष्येतर जीव-जगत्मे यही अन्तर है कि विकास मनुष्येतर जीवोंमे अपने आप होता गया, पर मनुष्य-जगत्मे विकास प्रयत्नपूर्वक किया गया। मनुष्येतर जगत्मे इच्छा तो है, पर उसको रूप देनेकी क्षमता उसमे नही है। मनुष्यमें इच्छा भी है और उसे रूप देनेका सामर्थ्य भी। यही एक ऐसी बात है, जिसने मनुष्यको संसारका अप्रतिद्वन्द्वी जीव बना दिया है।

सभी मनुष्य किसी-न-किसी परिमाणमे इस शक्तिको लेकर पैदा हुए हैं। अपनी इच्छाओको सभी किसी-न-किसी प्रकार रूप दे लेते हैं। पर कमाल वहॉ है, जहॉ मानवीय आकाक्षाको रूप सुन्दर हुआ है। अगर एक आदमी इच्छापूर्वक अपनी शक्तियोंका दुरुपयोग करके हजारोका खून चूसकर सेठ या साहूकार बन बैठे, लाखोको पीसकर सम्राट् बन जाय तो निस्सन्देह इच्छाको एक रूप तो दिया, पर यह रूप सुन्दर न होगा। सौंदर्य सामञ्जस्यमे होता है, जहॉ लाखोकी कीमतपर एक फल-फूल रहा हो वहॉ सामञ्जस्य कैसा ? यह तो वीभत्स काण्ड है। कहते हैं, जब चीन देशके 'छु' राज्यके सम्राट्ने एक छोटे-से 'सुङ्' नामक राज्यपर आक्रमण करना चाहा तो चीनके प्रसिद्ध दार्शनिक आचार्य मो-च उनके पास गये। सम्राट्ने अभिवादनपूर्वक उनसे आनेका कारण पूछा। मो-चने बताया कि उनके गॉवमें एक डाकूने उपद्रव मचा रखा है। उसके अत्याचारसे एक स्त्री विधवा हो गयी है और तीन बच्चे अनाथ हो गये है। कई लोग गृहहीन हो गये है। सम्राट्ने रोष-पूर्वक उन्हे आश्वासन

दिया कि डाकूको अवश्यमेव उसके कियेका दण्ड दिया जायगा। परन्तु मो-चकी चिन्तित मुखमुद्रा और भी गम्भीर हो गयी। उन्होने गम्भीरताके साथ पूछा कि उसे दण्ड क्यो दिया जायगा सम्राट्? सम्राट्ने कहा, "उसने समाजमे विशृखला पैदा की है, मेरी प्रजाकी शान्तिमे बाधा पहुँचायी है।" मो-चने नम्रतापूर्वक पूछा, "दीनबन्धु, क्या समाजको विशृखल करना, शान्तिमे बाधा पहुँचाना, दण्डनीय अपराध है?" सम्राट्ने घृणाके साथ उत्तर दिया "हॉ, ये ससारकी सबसे भद्दी और घृण्य बाते है। इससे समाजका सामञ्जस्य नष्ट होता है।" मो-चने नम्रतापूर्वक कहा, "तो धर्मावतार! एक और बड़ा डाकू है। यदि विचार करनेमे एक दिनकी भी देर हुई तो वह हजारों स्त्रियोको विधवा बना देगा, लाखो बच्चोको अनाथ कर देगा और लाखो प्रजाजन उसके अत्याचारसे भीत होकर त्राहि-त्राहि पुकार उठेगे। वह ससारकी सबसे भद्दी और घृण्य बातोसे भी बडा और घृण्य कार्य करना चाहता है।" सम्राट्ने आवेशमे प्रश्न किया, "उस अत्याचारी जालिमका नाम क्या है?" मो-चने विनयपूर्वक उत्तर दिया " 'छु' राज्यका सम्राट्!" और सम्राट्ने लज्जा और घृणासे सिर झुका लिया।

जब हम कहते हैं कि अमुक दृश्य बडा सुन्दर है, उदाहरणके लिए किसी वन या पर्वतकी शोभा ले ली जाय तो उसका मतलब यही होता है कि वहॉ रगका सामञ्जस्य है, ऊँचाई निचाई बेखाप नही हो गयी है। सबमे एक मीठा सम्बन्ध है, कोई किसीको दबा नहीं रहा है। मगर श्मशानकी खर-स्रोता नदी अपनी हड्डियो, ककालो, नरमुण्डो और चिता भस्मके साथ वीभत्स होती है; क्योंकि उसमे सामञ्जस्य नही होता। सुन्दरता सामञ्जस्यमे होती है।

पुराणोमें तिलोत्तमाकी कथा आती है। समस्त देवियो और अप्सराओंके सर्वोत्तम अगोका सौन्दर्य तिल-तिलभर सग्रह करके इस अपूर्व सुन्दरी तिलोत्तमाकी सृष्टि हुई थी। परन्तु सर्वोत्तम सौन्दर्यका बण्डल बॉध दिया जाता तो तिलोत्तमा नही बनती। सर्वोत्तम सौन्दर्योके

समर्दके बाद भी उनको यथायोग्य स्थानपर बैठा देना चतुर स्रष्टाके ही वशका काम है। इसीको सामञ्जस्य कहते हैं। सभी चित्रकारोंके पास काले, नीले, लाल आदि अनेक रंग रहते हैं। केवल उत्तम शिल्पी ही जानता है कि किसका किस स्थानपर उपयोग करनेसे चित्र सुन्दर लगेगा। यह संसार भी एक महत्त्वपूर्ण विशाल कला-कृति है। इसको इस ढंगसे सजाना कि उसकी कुरुपता और भद्दापन मिट जाय, प्रत्येक प्रकारके उपादान उचित मात्रामें उचित स्थानपर ठीकसे बैठा दिये जायँ यही सबसे बड़ी कला है। सारे मानव-समाजको सुन्दर बनानेकी साधनाका ही नाम साहित्य है। सौन्दर्यको ठीकसे समझनेसे ही आदमी सौन्दर्यका प्रशंसक और स्रष्टा बन सकता है। घरकी छोटी-छोटी चीजोंके सामजस्यसे यह शिक्षा शुरू होती है; क्योंकि वस्तुतः जो छोटे परिमाणके सौन्दर्यको समझ सकता है वही बड़े मापके सौन्दर्यको भी पहचान सकता है 'जो-जो पिण्डे सोई ब्रह्मण्डे।' इसलिए जो जाति जितनी ही अधिक सौन्दर्य-प्रेमी है, उसमें मनुष्यता भी उतनी ही अधिक होती है। जातिका यह सौन्दर्य-प्रेम उसके साहित्यमें, उसकी कलामें और उसके दान-पुण्यमें व्याप्त रहता है। साहित्य और कलामें जो प्रेम है, वही उत्तम है। दान, पुण्य और परोपकारवाला उसके बाद आता है। यह बात सुननेमें जरा उलटीसी जान पड़ती है, पर है सीधी ही। वास्तवमें दान, पुण्य, परोपकारादि बातें साहित्य और कलाकी प्रेरणाके फल हैं। हमारे कहनेका मतलब यह है कि दान और पुण्य आदि बातें ऐसी हैं जिन्हें समयपर अच्छा भी कहा जा सकता है और समयपर बुरा भी। अगर किसीने कसाईको पाँच सौ गायें दान कर दीं तो निश्चय ही उसने दान किया, पर यह दान बुरा हुआ। इसी तरह अगर किसीने नदियों और तालाबोंसे घिरे हुए देश-में दस-पाँच कुएँ खुदवा दिये तो इससे क्या लाभ? किसीको घी खिलाना बुरा नहीं है, पर अगर किसी अतिसारके रोगीको सेरभर घी खिला दिया गया तो उसकी मृत्यु निश्चित है। असलमें दान और पुण्य तो जिसके पास पैसा, समय और सहृदयता है वही कर सकता है, पर दान-पुण्य कब

करना चाहिये, कैसे करना चाहिये, किसे करना चाहिये, इत्यादि-इत्यादि बातें कुछ ही लोग सोच सकते हैं। इसलिए दान-पुण्यके लिए ऐसे मनीषियोंकी सहायता अपेक्षित होती है, जिन्होंने जगत्के द्वन्द्वोंको, उसी समस्याको, उसके सत् और असत् पक्षको, इस प्रकार देख लिया हो, जैसे आदमी हाथपर रखे हुए आँवलेके फलको देख सकता है। ऐसे मनीषी साहित्यके स्रष्टा हैं। साहित्य उन्हींकी चिन्ताका रूप है। इसीलिए जो जाति साहित्यके सर्वोत्तम रूपको समझ सकती है, वह मनुष्यताके सर्वोत्तम रूपको समझ सकती है। वही दान कर सकती है, वही पुण्य कर सकती है, वही धर्म-कर्म चला सकती है। यह समझना कि दान-पुण्य कर देना बड़ी बात है, भूल है। दान-पुण्य बुरी चीज नहीं है, यदि वह समझकर ढंगसे किया जाय, परन्तु वह अपने आपमें बड़ी चीज नहीं है। बड़ी चीज वह है, जो मनुष्यको आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य मनोवृत्तियोंसे ऊपर उठाती है, जो उसे देवता बनाती है। साहित्यका कार्य यही है। वह पौराणिक आख्यान सबको मालूम ही है जब क्रौञ्च-मिथुनमेंसे एकको निहत देखकर आदि-कविके मुखसे अचानक नये छन्दका आविर्भाव हुआ था। कविको छन्द मिल गया था, पर विषय उनको नहीं मिला था। वे उन्मत्त की भाँति घूम रहे थे, छन्द तो मिल गया, पर वक्तव्य-वस्तु क्या होगी, कौन-सी कथा, कौन-सा चरित्र, कौन-सा उद्देश्य इस छन्दके बन्धनमें बाँधा जाय? तमसाके तटपर व्याकुल भावसे घूमते हुए वाल्मीकिको महामुनि नारद मिले। (कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने इस आख्यान-पर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कविता लिखी है।) छन्द पाकर आदि-कविके मनमें जो व्याकुलता हुई थी, उसे वही समझा सकता है, जो छन्द पाकर कभी व्याकुल हो चुका हो और शायद समझ भी वही सकता है, जो छन्द पाकर पागल हो चुका हो। वाल्मीकिने नारदसे कहा था कि अबतक देवताके छन्दने देवताको मनुष्य बनाया है, मैं मनुष्यको देवता बनाना चाहता हूँ। हे देवर्षि, मुझे एक ऐसा चरित्र बताओ जिसे मैं इस छन्दमें गूँथकर मनुष्यको देवता बना सकूँ। नारदने वाल्मीकिको अयोध्याके

राजा रामका नाम बताया। वाल्मीकिने कातर-भावसे कहा, "हे देवर्षि! नाम तो मैंने भी सुना है, परन्तु उनका यथावत् चरित्र तो मैं नहीं जानता, इतिवृत्त कैसे लिख सकूँगा? मुझे भय हो रहा है कि कहीं मैं सत्य-भ्रष्ट न हो जाऊँ!" नारदने हँसकर जवाब दिया "कवि, दुनियामें जो कुछ घटता है, वह सब सत्य नहीं होता। तुम जो कहोगे वही सत्य होगा, अपनी मनोभूमिको रामकी जन्मभूमि अयोध्याकी अपेक्षा कहीं सत्य मानो"—

नारद कहिला हासि, सेइ सत्य या रचिबे तुमि।
घटे या ता सब सत्य नहे, कवि तव मनोभूमि॥
रामेर जनम स्थान अयोध्यार चेये सत्य जेनो।

सो, मनुष्यको देवता बनाना ही, छन्द-साधनाका चरम लक्ष्य है। जिस कविको सचमुच ही छन्द-रूपी रत्नका साक्षात्कार हुआ है, उसे ऐसा ही विषय खोजना चाहिये, जिससे मनुष्य देवता बने, लोभ-मोहकी मारसे ऊपर, आहार-निद्राके धरातलसे ऊपर, सकर्ण स्वार्थके पंजोंसे मुक्त। साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि जो कुछ घटता है वह सत्य ही नहीं होता सभी तथ्य सत्य नहीं होते। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' सत्यका मुख सुनहरे पात्रसे ढका हुआ है।

स्वार्थ तो सबमें होता है। पशुमें भी है, मनुष्यमें भी है। जहाँतक स्वार्थका सम्बन्ध है, मनुष्य पशु ही तो है। अगर पशु कहना कुछ कड़ा मालूम होता हो तो उसे 'बड़ा पशु' कहिये। पशुका स्वार्थ छोटा होता है और मनुष्यका बड़ा। नहीं तो क्या उन आदमीनुमा लोगोंको मनुष्य ही कहेंगे, जो पेट पालनेके लिए, स्वार्थके लिए, खुद-गरजीके लिए झूठ बोलते हैं, दगा करते हैं, दूसरोंका अहित करते हैं और जाने क्या क्या करते हैं? जो और भी बड़े स्वार्थी होते हैं, पैसेके बलपर कभी अन्ध जनताको पैसेकी शराब पिलाकर उन्हें मतवाला करते है और निरीहोंके रक्त-शोषणका औजार बना लेते है। कुछ बुद्धिके बलपर उन्हें धार्मिक ढोंगका नशा पिलाकर लोगोंको जलील करते हैं, देशका देश तबाह करा देते हैं। कुछ अधिकारका मद पिलाकर गरीबोंकी पसलियाँ दुह लेते है। क्या इन

आदमियोंको भी आप आदमी कहते हैं ? नशा सेवन करना पाप है, उसके सेवनका साधन बनना और भी बड़ा पाप है, पर उस पापकी तो कोई तुलना ही नहीं, जिसमे नशेको नशा न कहकर, उसके असली तत्वको छिपाकर और अच्छा नाम देकर सेवन कराया जाता है !

कोई व्यक्ति या वर्ग या जाति रुपये कमा सकती है, नाम कमा सकती है, बुद्धिसे निम्न कोटिका स्वार्थ-साधन करके यश भी कमा सकती है, पर यह इस बातका प्रमाण नही है कि उसके भीतर मानवोचित सद्-वृत्तियोंका विकास हुआ है और न इसी बातका प्रमाण है कि वह जाति ससारकी प्रगतिमे अपना कोई स्थायी दान छोड़ जाती है। दूसरी तरफ वह जाति जो सौन्दर्यकी पूजा करती है, असुन्दरकी उपेक्षा करती है साहित्य और कलाकी सृष्टि करती है वह अगर निर्धन भी हो तो ससारमे अपनी अमूल्य छाप छोड़ जाती है। ग्रीक-सस्कृति अपने अनुयायियो और निर्माताओके अभावमे भी आज ससारका नेतृत्व करती है। सिकन्दर गुजर गये, सुकरात और अफलातून भी नही रहे, पर अपराजित, अमर ग्रीक-साहित्य संसारको अपनी ज्योतिसे आज भी जगमग कर रहा है। इटलीका उदाहरण लीजिये। परसोतक यह देश पराधीन अवस्थामे ससारकी सहानुभूति और अनुकम्पाका पात्र था। कल अधिकारके मदमे चूर होकर उसने एक गरीब देशकी गर्दनपर छुरी चला दी। उसकी विजय हुई, उसे धन मिला, नाम भी कम नही मिला। पर इसीलिए इटलीमे मनुष्योचित गुण नहीं कहा जायगा। कहनेवाले तो उसे पशुसे भी अधम कह रहे हैं। पुराने ग्रीक और नवीन इटलीमे अन्तर क्या है ? एकने संसारको विजय किया, पर उसकी विजय पूजनीय मानी गयी, दूसरेने एक भूखण्डको विजय किया, पर ससारने उसे नीच और बर्बर कहा है। उसकी विजय भी स्थायी नही रही और उसे पराजयका फल चखना पड़ा। भविष्य शायद और भी कड़ा विशेषण खोजेगा, क्योंकि एककी विजय साहित्य और कलाकी है और दूसरेकी विजय पशुबलकी। एकने मनुष्यकी सर्वोत्तम वृत्तिका सहारा लिया था और दूसरेने उसके अधमतम

स्वार्थी रूपका। असलमे किसी जातिके उत्कर्ष और अपकर्षका पता उसके साहित्यसे ही लगता है। भारतवर्षके गुप्तकालका साहित्य लीजिये और अठारहवी शताब्दीका, दोनोमे कितना अन्तर है! एकमें वह विराट् जीवनी शक्ति है, जो आज डेढ हजार वर्ष बाद भी हमारी रहनुमाई कर रही है और दूसरीकी नाडीमे स्पन्दन भी नहीं न राग, न विराग, न प्रेम, न द्वेष! रूसका साहित्य आज समुद्र और पर्वतोको अनायास ही लाँघकर संसारके गलेका हार बन गया, क्योकि रूसी जातिमे आज जीवन है।

सभी मनुष्य स्वभावसे ही साहित्य-स्रष्टा नहीं होते, पर साहित्य-प्रेमी होते हैं। मनुष्यका स्वभाव ही है सुन्दर देखनेका। घीका लड्डू टेढा भी जरूर भला ही होता है, पर मनुष्य गोल बनाकर उसे सुन्दर कर लेता है। मूर्ख-से-मूर्ख हलवाईके यहाँ भी गोल लड्डू ही प्राप्त होता है; लेकिन सुन्दरताको सदा-सर्वदा तलाश करनेकी शक्ति साधनाके द्वारा प्राप्त होती है। उच्छृंखलता और सौन्दर्य-बोधमे अन्तर है। बिगड़े दिमागका युवक पराची बहू-बेटियोंके घूरनेको भी सौन्दर्य-प्रेम कहा करता है, हालाँकि यह संसारकी सर्वाधिक असुन्दर बात है। जैसा कि पहले ही बताया गया है, सुन्दरता सामञ्जस्यमें होती है और सामञ्जस्यका अर्थ होता है, किसी चीजका बहुत अधिक और किसीका बहुत कम न होना। इसमे सयम की बडी जरूरत है। इसलिए सौन्दर्य-प्रेममें सयम होता है, उच्छृङ्खलता नहीं। इस विषयमे भी साहित्य ही हमारा मार्ग-दर्शक हो सकता है।

जो आदमी दूसरोके भावोका आदर नहीं करना जानता उसे दूसरेसे भी सद्भावनाकी आशा नहीं करनी चाहिये। मनुष्य कुछ ऐसी जटिलताओंमे आ फँसा है कि उसके भावोको ठीक-ठीक पहचानना सब समय सुकर नहीं होता। ऐसी अवस्थामे हमे ससारके मनीषियोंकी चिन्ताका सहारा लेना पडता है। इस दिशामे साहित्यके अलावा दूसरा उपाय नहीं है। मनुष्यकी सर्वोत्तम कृति साहित्य है और उसे मनुष्यपदका अधिकारी बने रहनेके लिए साहित्य ही एकमात्र सहारा है। यहाँ साहित्यसे हमारा मतलब सब तरहकी उसकी सात्त्विक चिन्ताधारासे है।

# आन्तरिक शुचिता भी आवश्यक है

आजकल सर्वत्र उत्पादन बढ़ानेकी चर्चा है। स्वाधीन भारतके सामने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। कोई भी काम धनके बिना नहीं हो सकता और धनके लिए यह जरूरी है कि हमारे खेत अधिक-से-अधिक अन्न उत्पन्न करें, हमारी खानें ज्यादा-से-ज्यादा खनिज पदार्थ दें, हमारे कल-कारखाने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर माल तैयार करें। किन्तु हमें अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षा भी हर प्रकारसे करनी है। लेकिन देशकी रक्षा होने मात्रसे तो हमारा लक्ष्य सिद्ध नहीं हो जाता। हमारे बीच अज्ञान और कुसंस्कारका राज्य जबतक बना हुआ है तबतक 'स्वराज्य'का कोई अर्थ ही नहीं होता। हमें इतना धन अवश्य चाहिये जिससे हम सम्पूर्ण जनताको सच्चे अर्थमें शिक्षित बना सकें और उनके भीतर ऐसे महान् आदर्शके प्रति निष्ठा पैदा कर दें जो न तो अन्याय करना पसन्द करे और न अन्याय सहना। इस कार्यके लिए हमें सबसे पहले मनुष्यको उसकी प्राथमिक चिन्ताओंसे मुक्त कर देना चाहिये। उसे रोटीकी चिन्ता न हो, बीमार पड़नेपर दवा मिलनेमें कठिनाई न हो, बच्चोंको स्कूल भेजनेकी सुविधा प्राप्त हो। इतना तो होना ही चाहिये, पर इतनेके लिए भी जितने धनकी आवश्यकता होगी वह हमारे पास नहीं है। हमें उत्पादन बढ़ानेके सब तरीकोंको सोचना है। जो लोग उत्पादन बढ़ानेकी बात कहते हैं वे ठीक ही कहते हैं।

लेकिन उत्पादन और धनसंचय किसलिए? प्राथमिक आवश्यकताओं-की पूर्तिके लिए धनका उत्पादन तो ठीक है, मगर फिर भी प्रश्न रह जाता है, प्राथमिक आवश्यकताओंकी पूर्ति ही किस परवर्ती उद्देश्यके लिए हो? क्या हमें सारे देशको यन्त्रपटु और दुस्साहसी बनाना है, क्या विश्व-विजयके सपने चरितार्थ करनेके लिए हमें इस तैयारीकी जरूरत है?

उत्पादनसे क्या हम और भी अधिक उत्पादनको सुलभ और सुकर बनाना चाहते हैं ?

इस प्रश्नका उत्तर हमे देना होगा। क्योंकि लक्ष्यभ्रष्ट होकर हम कहींके न रहेंगे। सुखके बाह्य साधन अपने-आपमे बडे नहीं हैं। वे यदि मनुष्यके उन महान् गुणोंका विकास नहीं कर सकते जिन्हे युग-युगसे हम 'महान्' मानते आ रहे हैं तो विनाशकी ओर ले जायेंगे। मनुष्यमे यदि विवेक नहीं जाग्रत हो सका, यदि उदारता, समता और सवेदनशीलताका विकास नहीं हुआ, यदि वह आत्मसम्मान और पर-सम्मानके महान् तत्त्वों को नहीं अपना सका, यदि उसमे सन्तोष और श्रद्धाका विकास नहीं हुआ तो वह 'पशु' से अधिक भिन्न नहीं है। लोभ-मोहको बढ़ावा देनेसे मनुष्य-की 'मनुष्यता' ही आहत होती है। अनियन्त्रित धन-लिप्सा मनुष्यको पशुसे भी निकृष्ट बना देती है।

सौभाग्यवश हमे ऐसा महान् नेता मिला था जो हमे असयम और अतिलोभके विनाशसे बचानेको प्रयत्नशील था, जिसने ऊपरकी तड़क-भड़क की व्यर्थता और बाह्याडम्बरके ढकोसलेका खोखलापन दिखा दिया था, जिसने आन्तरिक पवित्रता और सत्यनिष्ठाकी महिमा प्रत्यक्ष करा दी थी। परन्तु यह इतिहासका सबसे बडा निष्ठुर परिहास होगा यदि हम अपने नेताके महान् उपदेशोंकी बात भूल जायँ। उत्पादन आवश्यक है, धन भी आवश्यक है, पर वह ऊपरी तडक-भडक, बाह्याडम्बर और दिखावेके लिए नहीं, भीतरी शान्ति और पवित्रताके लिए। हमारे नाग-रिक यदि इस आन्तरिक शुचिताको भूल जाते हैं तो हमारी उत्पादन-व्यवस्था कितनी भी अच्छी क्यों न हो, हमे विनाशकी ओर ही ले जायगी।

इसीलिए हमे अपनी अन्य आवश्यकताओंकी पूर्तिके उपाय सोचते समय शिक्षा और ज्ञानके प्रसारकी बातको गौण स्थान नहीं देना चाहिये। हमे यह नहीं भूल जाना चाहिये कि जबतक देशवासियोंका नैतिक बल नहीं बढेगा, उनके भीतर पवित्रता और आदर्शनिष्ठा नहीं बढ़ेगी, तबतक

बाह्यव्यवस्थाएँ कितनी भी पूर्ण क्यो न हों, जड नहीं जमा सकेंगी। जिस शक्तिके पीछे विवेक और औदार्य नहीं होते वह गलत दिशामे ले जाती है।

यह समझना भूल है कि हम अपने अतीतकी एकदम उपेक्षा करके बडे हो जायेंगे। अतीत ही वर्तमानको जन्म देता है। उसके दोष-गुणसे वर्तमान प्रभावित रहता है। हम अपनी उन महान् निधियोको नहीं भुला सकते जिन्होने शताब्दियोतक मनुष्यको संयमी, सौन्दर्य-प्रेमी और सवेदनशील बनाया है, जिन्होने हमारे पूर्वजोके अन्तरको धर्मभीरु और बाहरको दृढ़ बनाया था। हमारे पुराने ग्रन्थ, हमारे ऐतिहासिक भग्नावशेष और हमारी कलात्मक कृतियाँ हमे महान् और उदार बनाती हैं। उनकी ओर जितना भी अधिक ध्यान दिया जा सके उतना ही अच्छा होगा। युग युगसे मनुष्यको मनुष्योचित गुणोके प्रति निष्ठावान् बनानेवाली इन वस्तुओके सरक्षण और प्रचारकी व्यवस्थाको भुलाना एकदम वाछनीय नही है। जो लोग इस प्रकार तर्क करते हैं कि जिन देशोमे ये वस्तुएँ नहीं हैं वे भी तो कम उन्नत नही है, वे दयाके पात्र हैं। उन देशोके निवासियोके हृदयमे पैठनेकी शक्ति उनमें नहीं है।

जिस प्रकार भौतिक पदार्थके उत्पादनके लिए आवश्यक है कि हम अपनी समूची उत्पादन-शक्तिका परिपूर्ण उपयोग करे उसी प्रकार आन्तरिक शुचिता और बाहरी सयमके लिए हमे नवीन और पुरातन समस्त उपलभ्य साधनोका उपयोग करना चाहिये। दोनोमे समता बनी रहनी चाहिये। ऐसा न हो कि हम बाहरी बातोपर अधिक जोर देकर भीतरी शुचिताकी उपेक्षा कर दे। इसके लिए हमे उत्तम साहित्यके सृजन, प्रचार और प्रसारकी व्यवस्था करनी चाहिये। एकागी उन्नति लाभजनक नहीं हो सकती। जबतक हमारा भीतर पवित्र नही होता तबतक हम उन्नत और सभ्य नही हो सकेंगे।

# समस्याओंका सबसे बड़ा हल

अपनी रूस यात्रा के सिलसिलेमें मास्कोसे कविवर रवीन्द्रनाथने एक पत्रमें लिखा था "हमेशासे देखा गया है कि मनुष्यकी सभ्यतामें अप्रसिद्ध लोगोंका एक ऐसा दल होता है जिनकी संख्या तो अधिक होती है फिर भी वे वाहन होते हैं; उन्हें मनुष्य बननेका अवकाश नहीं, देशकी सम्पत्तिके उच्छिष्टसे वे प्रतिपालित होते हैं; वे सबसे कम खाकर, सबसे कम पहनकर, सबसे कम सीखकर अन्य लोगोंकी परिचर्या या गुलामी करते हैं; सबसे अधिक उन्हींका असम्मान होता है। बात बातपर ये भूखों मरते हैं, ऊपरवालोंकी लात खाते हैं जीवन-यात्राके लिए जितनी भी सुविधाएँ और मौके हैं उन सबसे वे वञ्चित रहते हैं। वे सभ्यताकी दीवट हैं, सिरपर दिया लिए खड़े रहते हैं; ऊपरवालोंको उजेला मिलता है और उन विचारोंके ऊपर गरम तेल ढलकता रहता है! मैंने इनके बारेमें बहुत दिनोंसे बहुत सोचा है, मालूम हुआ है कि इसका कोई उपाय नहीं है। जब एक समूह नीचे न रहेगा तो दूसरा समूह ऊपर रह ही नहीं सकता। और ऊपर रहनेकी आवश्यकता है ही। ऊपर न रहा जाय तो बिलकुल नजदीककी सीमाके बाहर कुछ दिखाई नहीं देता, मनुष्यत्व सिर्फ जीविकानिर्वाह करनेके लिए ही नहीं है। एकान्त जीविकाका अतिक्रम करके आगे बढ़े तभी उसकी सभ्यता है। सभ्यताकी उत्कृष्ट फसल तो अवकाशके खेतमें ही पैदा होती है। इसीलिए सोचा करता था कि जो मनुष्य सिर्फ अवस्थाके कारण ही नहीं, बल्कि शरीर और मनकी गतिके कारण नीचे रहकर काम करनेको मजबूर है और उसी कामके योग्य है, जहाँतक सम्भव हो, उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य, सुख और सुविधाके लिए उद्योग करना चाहिये।......रूसमें एकदम जड़से लेकर इस समस्याको हल करनेकी कोशिश की जा रही है। उसका

अन्तिम परिणाम क्या होगा, इस बातपर विचार करनेका समय अभी नही आया। मगर फिलहाल जो कुछ आँखोंके सामने गुजर रहा है उसे देखकर आश्चर्य होता है। हमारी सम्पूर्ण समस्याओंका सबसे बड़ा हल है शिक्षा। अभीतक समाजके अधिकाश लोग शिक्षाकी पूर्ण सुविधासे वंचित है और भारतवर्ष तो प्रायः पूर्णतः ही वञ्चित है।

## शिक्षाका आदर्श

"यहाँ रूसमे वही शिक्षा ऐसे आश्चर्यजनक उद्यमके साथ समाजमे सर्वत्र व्याप्त होती जा रही है कि जिसे देखकर दंग रह जाना पड़ता है। शिक्षाकी तौल सिर्फ संख्यासे नही हो सकती, वह तो अपनी सम्पूर्णतासे अपनी प्रबलतासे ही तौली जा सकती है। कोई भी आदमी निस्सहाय और बेकार न रहने पावे, इस बातके लिए कैसा विराट् आयोजन और विशाल उद्यम हो रहा है! केवल सफेद रूसके लिए ही नही मध्य एशियाकी अर्ध-सभ्य जातियोमे भी ये बाढकी तरह शिक्षा-विस्तार करते हुए आगे बढ़ रहे है, जिससे विज्ञानका अन्तिम उत्पादनतक उन्हें मिले इसके लिए इतने प्रयत्न हो रहे हैं, जिनका अन्त नही। यहाँ थिएटरके अभिनयोमे बड़ी जबरदस्त भीड़ होती है, मगर देखनेवाले कौन हैं किसान और मजूर। कही भी इनका अपमान नही। देशकी सर्वसाधारण की तो बात ही छोड़ दो इंगलैण्डके मजदूर-समाजके साथ तुलना करने से जमीन-आसमानका फर्क नजर आता है।

"हम श्री-निकेतनमे जो काम करना चाहते हैं ये लोग देशभरमे अच्छी तरहसे उसी कामको कर रहे हैं। हमारे कार्यकर्ता अगर यहाँ आकर कुछ सीख जा सकते तो बडा उपकार होता। रोजमर्रा मै हिन्दुस्तानके साथ यहाँकी तुलना करता हूँ और सोचता हूँ कि क्या हुआ और क्या हो सकता था। मेरे अमेरिकन साथी डाक्टर हेरी टिम्बर्स यहाँकी स्वास्थ्य-व्यवस्थाकी चर्चा करते है, उनकी कार्यपद्धति देखनेसे आँखे खुल जाती हैं, और कहाँ पड़ा है रोगसन्तप्त, भूखा, अभागा, निरुपाय भारतवर्ष! कुछ दिन पहलेतक भारतकी अवस्थाके साथ यहाँकी

अवस्थामें बिलकुल समानता थी इस छोटे समयमें बड़ी तेजीके साथ उसमें कैसा परिवर्तन हो गया है! और हम अभीतक जड़ताके कीचड़में ही आकण्ठ डूबे हुए हैं!"

सुदूर विदेशमें अशिक्षाके अन्धकारको विनाश करनेका विराट् प्रयत्न देखकर कविको भारतवर्षकी निरुपाय अवस्था बराबर याद आती रही। वे इस हतभाग्य देशके भूत और भविष्यको सोचकर व्याकुल हो पड़े थे। आज इस देशमें समस्याओंके समाधानके 'सबसे बड़े हल'का जो खिलवाड़ हो रहा है उसे देखकर वे बहुत व्यथित हुए थे। बर्लिनसे लिखी हुई एक दूसरी चिट्ठीमें उन्होंने लिखा था।

## पराधीनताकी बाधा

"बुद्धिका साहस और जनसाधारणके प्रति सहानुभूति इन दोनोंके अभावसे ही दुःखीका दुःख दूर करना हमारे देशमें इतना कठिन काम हो गया है। परन्तु इस अभावके लिए किसीको दोष नहीं दिया जा सकता। क्योंकि क्लार्क फैक्टरी बनानेके लिए ही एक दिन हमारे देशमें वणिक्-राज्य द्वारा स्कूल खोले गये थे। मेजपर मालिकके साथ बैठ लेनेमें ही हमारी सद्गति है। इसीलिए उम्मेदवारीमें अकृतार्थ होते ही हमारी विद्या, शिक्षा व्यर्थ हो जाती है। इसीलिए हमारे देशमें प्रधानतः देशका काम कांग्रेसके पण्डाल, अखबारोंकी लेख-मालामें और शिक्षित सम्प्रदायके वेदना-उद्घोषणमें ही चक्कर काट रहा था। हमारे कलमसे बँधे हाथ देशको बनानेके काममें आगे बढ़ ही न सके।

"मैं भी तो भारतकी ही आबहवामें पला हूँ। इसीलिए जोरके साथ इस बातको कयासमें लानेकी हिम्मत न कर सका कि करोड़ों जनसाधारणकी छातीपरसे अशिक्षा और असामर्थ्यका पहाड़ उतारना सम्भव है। सोचा करता था, समाजका एक चिर बाधाग्रस्त जो नीचेका अंश है, जहाँ कभी भी सूर्यका प्रकाश पूर्ण रूपसे नहीं पहुँचाया जा सकता वहाँ कम-से-कम तेलकी बत्ती जलानेके लिए कमर कसकर जुट जाना चाहिये। परन्तु साधारणतया इतना-सा कर्तव्यबोध भी लोगोंके दिल-

पर काफी जोरका धक्का नहीं मारता, क्योंकि जिन्हे हम अँधेरेमे देख ही नहीं सकते उनके लिए कुछ भी किया जा सकता है यह बात भी साफ तौरसे मेरे मनमे नहीं आती । इसी तरहके स्वल्प साहसी हृदयको लेकर रूस गया था । सोचा था, यहाँ जो किसानो और मजदूरोमे शिक्षा-प्रचार की बडी शुहरत सुनी है उसके मानी हैं कि उनमे शिशु-शिक्षा पहला या दूसरा भागतक पढा दिया गया होगा या दसतक पहाड़े रटा दिये गये होगे !"

परन्तु कविने अचरजभरी मुद्रासे देखा कि आठ वर्षके स्वल्प कालमे इन्होंने असाध्य साधन किया है, देशको इस सिरेसे उस सिरेतक नवीन जीवन और नवीनप्राणसे सजीव कर दिया है । साधारण मजदूर भी शिक्षा और ज्ञानमे भारतवर्षमे औसत शिक्षित व्यक्तिसे अधिक योग्य है । और "याद है तुम्हे, इन्ही लोगोने लीग आफ नेशन्समे अस्त्र-निषेधका प्रस्ताव भेजकर कपटशान्ति-इच्छुकोके मनको चौंका दिया था ! क्योकि अपना प्रताप बढाना या उसकी रक्षा करना सोवियटोका लक्ष्य नही है । इनका उद्देश्य है सर्वसाधारणकी शिक्षा, स्वास्थ्य, अन्न और जीवनकी अन्य आवश्यकताओकी पूर्तिके उपाय उपकरणोको प्रकृष्ट प्रणालीसे व्यापक बना देना, इन्ही बातोंके लिए निरुपद्रव शक्तिकी सबसे अधिक आवश्यकता है ।" कविका मन बराबर "अलिफलैलाके जादूगरकी करामात-सी मालूम होनेवाली" सर्वतोमुखी उन्नतिको देखकर भारतवर्षके दयनीय शोषितोकी यादमे तड़प उठता रहा।

"दस ही वर्ष पहलेकी बात है । ये लोग हमारे देशके मजदूरोकी तरह ही निरक्षर, निरन्न और निस्सहाय थे, हमारे ही समान अन्धसस्कार और धर्ममूढता इनमे मौजूद थी । दुःखमे, आफतमे, विपत्तिमे देवताके द्वारपर इन्होने भी सिर पटके हैं । परलोकके भयसे पण्डे-पुरोहितोके हाथ और इस लोकके भयसे राजपुरुष, महाजन और जमीदारके हाथ अपनी बुद्धिको ये बन्धक रख चुके थे । जो इन्हे जूता मारते थे उन्हीका जूता साफ करना इनका काम था । हजारो वर्षसे इनकी प्रथा और पद्धतिमे

कोई परिवर्तन नहीं हुआ, यान और वाहन, चरखा और कोल्हू सब कुछ बाबा आदमके जमानेके चले आते थे, इनसे जब आधुनिक यन्त्रोपर हाथ रखनेको कहा जाता था तब ये भी बिगड खड़े होते थे। हमारे देशके पैंतीस करोड आदमियोंपर जैसे भूतका भूत सवार है, उसने जिस तरह उनकी ऑखे मीच रखी है ठीक वैसा ही हाल इनका भी था। इन्हीं कई वर्षोंमें इन्होने मूढता और अक्षमताका पहाड़ हिला दिया है ? कैसे ये हिला सके ? इस बातसे आगे भारतवासियोको जितना आश्चर्य हुआ है उतना और किसको होगा, बताओ। और मजा यह कि जिस समय यह परिवर्तन चल रहा था उस समय हमारे देशका बहुत प्रशंसित Law and Order (कानून और व्यवस्था) यहॉ था ही नहीं।

"और कुछ नहीं, यह स्पष्ट दिखाई देता है कि सभी कुछ हो सकता था, मगर हुआ नहीं; न सही, हमें Law and Order तो मिला है। हमारे यहॉ साम्प्रदायिक लड़ाइयॉ होती रहती हैं, और इसके लिए हमारी खास तौरसे बदनामी की जाती है। यहाँ भी यहूदी सम्प्रदायके साथ ईसाई सम्प्रदायकी लडाई हमारे ही देशके आधुनिक उपसर्गकी तरह अत्यन्त कुत्सित और बडे ही जगली ढगसे होती थी। शिक्षा और शासनके द्वारा उन्हे एकदम जडसे उखाडकर फेंक दिया गया है। कितनी ही बार मैंने सोचा है कि साइमन कमीशनको भारतमें जानेसे पहले एक बार रूस घूम जाना उचित था।"

केवल रूस ही नहीं, अन्यान्य देशोकी अवस्थाके साथ कविने अपने देशकी अवस्थाकी तुलना करके देखा था कि विदेशी शासन हमारे शिक्षा और सस्कारिताके मार्गमें बुरी बाधा बना खडा है। मृत्युके तीन मास पूर्व अपने जन्म-दिनके अवसरपर उन्होने कहा था

"सभ्य-शासनकी परिचालनासे भारतवर्षमे जो दुर्गति आज सर्वाधिक उग्रताके साथ सिर उठाकर खडी हुई है वह केवल अन्न, वस्त्र, शिक्षा और आरोग्यका शोकाई अभाव नहीं है। वह है भारतवासीके भीतर अत्यन्त नृशस आत्मविच्छेद अलगावकी भावना। भारतवर्षके बाहर

स्वशासित मुसलमानी देशोंमें मैंने इसकी कोई तुलना नहीं पायी है। हमारी विपत्ति यह है कि हमींको इस विपत्तिके लिए जवाबदेह बनाया जायगा। किन्तु इस दुर्गतिका रूप जो प्रतिदिन क्रमशः उत्कट होता जा रहा है वह यदि भारत-शासनके ऊपरी स्तरके किसी एक गुप्त केन्द्रसे प्रतिदिन पोषित न होता रहता और प्रश्रय न पाता रहता तो कभी भी भारतीय इतिहासका इतना बड़ा अपमानकारी असम्य परिणाम नहीं घट सकता था। भारतीय लोग बुद्धि-सामर्थ्यमें जापानसे किसी अंशमें कम हैं यह बात विश्वास योग्य नहीं है। इन दोनों पूर्वीय देशोंका प्रधान भेद यह है कि भारतवर्ष अंग्रेजी शासन द्वारा सब प्रकारसे अधिकृत और अभिभूत है और जापान इस प्रकारकी किसी पाश्चात्य जातिकी पदतलकी छायासे सम्पूर्ण मुक्त है। यह विदेशी सभ्यता (यदि इसे 'सभ्यता' कहो तो) हमारा क्या लूट ले गयी है, यह मैं जानता हू। उसके बदले उसने डण्डेके हाथों उस वस्तुकी स्थापना की है जिसे Law and Order कहा जाता है, जो पूरी तौरसे बाहरी वस्तु है, केवल चौकीदारी भर ही है।"

बहुत दिन पहले कोरियाके एक युवकके प्रश्नके उत्तरमें उन्होने कहा था "ससारमें जो युगान्तरकारी द्वन्द्व शुरू हुआ है, वह भिन्न-भिन्न महाजातियोमे ही नहीं, बल्कि मनुष्यके दो ही विभागोंमे है शासनकर्ता और शासितमें। शोषणकर्ता स्वार्थी और शुष्क होता है। इस विषयमें कोरिया और जापान, प्राच्य और पाश्चात्य सब एक ही पक्तिमें हैं। हमारा कष्ट और हमारी दीनता ही हमारी महाशक्ति है उसीने ससार भरमे हमारा महा-सम्मिलन कराया है और उसीके बलपर भविष्यपर हमारा अधिकार होगा। किन्तु जो धनिक हैं, स्वार्थके प्राचीरसे वे अलग-अलग घिरे हुए हैं। हमरे लिए बड़े आश्वासनकी बात यह है कि जो सत्य रूपमें मिल सकते हैं उन्हींकी जय होती है। यूरोपमे जो महायुद्ध हुआ था वह धनिकोका युद्ध था। उस युद्धका बीज आज असंख्य होकर ससारभरमे फैल गया है। वह बीज मानव-प्रकृतिके अन्दर ही है स्वार्थ ही विद्वेषबुद्धिकी जन्मभूमि है। अबतक दुःखी ही दीनता और अज्ञानके कारण एक

दूसरेसे अलग थे, और धनमें जो शक्ति-शूल था वह उनके मर्मस्थलमें चुभा हुआ था। आज दुःख और दीनता ही हमें मिलायेगी और धन ही धनिकोंको विच्छिन्न करायेगा। संसारमें आज राष्ट्रतन्त्रकी जो अशान्त लहरें उठ रही हैं, बलवान् जातियोंमें जो दुराकांक्षाएँ बढ़ रही हैं, उससे क्या हमें यही नहीं दीख रहा ?" इसपर टीका करना बेकार है। मृत्युके समय रवीन्द्रनाथ जैसे सिद्धवाक् पुरुषने कहा है कि "मैं ऐसा विश्वास करना अपराध ही मानता हूँ कि मनुष्यत्वका अन्तहीन और प्रतिकारहीन पराभव ही चरम सत्य है !" यह वाणी ठीक होगी। मनुष्यत्वकी हार नहीं हो सकती। वह एक दिन जरूर विजय-गौरवसे वरेण्य बनेगा। महापुरुषकी वाणी "मृषा न होहिं" ॥

# साहित्यका नया कदम

## ( एक काल्पनिक वार्तालाप )

स्थान पुस्तकालयके अध्यक्षका कमरा।

उपस्थित सज्जन

पंडितजी पुस्तकालयके अध्यक्ष।

रत्नाकरदास वृद्ध साहित्यिक।

बलराज नवीन साहित्यिक।

मोहनलाल नवीन साहित्यिक।

रत्नाकरजी मोहनलाल, तुम कल साहित्यके नये अङ्गके बारेमे कुछ कहने जा रहे थे। मै आज तुम लोगोकी बात ही सुनना चाहता हूँ। मैंने और शर्माजीने कल तुम्हे बहुत-सी पुरानी बाते सुनायी हैं, पर सच पूछो तो मैं भी भीतर-भीतर अनुभव करने लगा हूँ कि पुरानी ही बाते सब कुछ नही है और तुम लोगोसे सुनने योग्य बहुत-सी बाते सुनी जा सकती है।

बलराज कल आपने जो बाते बतायी थीं उन्हे मैने बड़े ध्यानसे सुना। पर मुझे ऐसा लग रहा था कि वे किसी ऐसे स्वप्नलोककी बाते हैं जो केवल अभिभूत करता है। आँखोपर एक नशाका आवरण डाल देता है और चित्तको इस प्रकार मत्त बना देता है कि आदमी जीवनकी वास्त-विकताओंके प्रति बेखबर हो जाता है। मै फिर एक बार कहना चाहता हूँ कि इस यन्त्र-युगमे सामन्त-युगीन नायिकाओके सिंगार-पटारकी बातं बिल्कुल बेतुकी लगती है। मशीनोने आदमियोंकी परिस्थितियोको ही नही बदला है, आदमीको भी बदल डाला है।

रत्नाकरजी मशीनें आदमीकी परिस्थितिको बदल दें, यह बात तो

कुछ समझमे आ जाती है, पर आदमी कैसे बदल गया है बलराज! साहित्य उन मूल मनोवृत्तियोपर आधारित है जिनमे कभी परिवर्तन नही होता। तुम क्या कहना चाहते हो कि मूल मनोवृत्तियाँ भी अस्थायी है?

बलराज जी, मै कहना तो कुछ ऐसी ही बात चाहता हूँ।

रत्नाकरजी (कुछ सोचमे पडकर) बलराजकी सभी बाते झकझोर देनेवाली होती है। क्यो मोहनलाल, तुम कुछ कहना चाहते हो? बोलो, मै आज सुनना ही चाहता हूँ। मुझसे अधिक धैर्यपूर्वक सुननेवाला बूढा तुम्हे नही मिलेगा।

मोहनलाल जैसी आज्ञा। मैं कल जिस साहित्यके नये अङ्गकी बात कह रहा था वह नयी परिस्थितिकी उपज है। छापेकी मशीनका आविष्कार यद्यपि पन्द्रहवी शताब्दीमे ही हो गया था तथापि वह साहित्यपर अपना सम्पूर्ण प्रभाव तबतक नही विस्तारित कर सकी जबतक भापकी मशीनों और तारका सयोग उससे नही हुआ। रेल और जहाजने एक स्थानसे दूसरे स्थानपर कागज आदि उपकरण पहुँचाना शुरू किया और टेलीग्राफने खबरे मँगाना सुलभ कर दिया। और इस प्रकार उस नये साहित्यका जन्म हुआ जिसे पत्रकार-कला कहा जाने लगा है। यूरोपमे अठारहवीं सदीके अन्ततक यह कला पैर नही जमा सकी थी। उन्नीसवीं शताब्दीमे इसने निश्चित रूपसे साहित्यको प्रभावित करना शुरू किया और वर्तमान शताब्दीमे वह एक साहित्यका अनिवार्य वाहन हो गयी है। एक पण्डितने इस नये साहित्याङ्गकी महिमाका अन्दाजा लगानेके लिए हिसाब लगाकर बताया है कि सुकरातको गत ढाई हजार वर्षोंमें जितने पाठक मिले होंगे उतने बर्नर्ड शाको एक दिनमें मिल जाते हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि पाठकोंके अधिक मिलनेसे किसी लेखकका महत्त्व बढ ही जाता है, पर यह निश्चित है कि किसी विचारकी सोची हुई किसी बातको सूक्ष्म भावसे आलोचित और गृहीत होनेके लिए यह जरूरी है कि अधिक-से-अधिक आदमी उस विचारको सुने। इस दृष्टिसे शा साहब निश्चय ही सुकरातसे अधिक भाग्यवान् हैं। पर अगर पत्रकारोके साहित्यपर गर

करके देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि यह साहित्य जल्दी लिखने, जल्दी पढ़ने और जल्दी ही भूलनेको उत्तेजना देता है। इस प्रकार वह एक तरफ जहाँ किसी लेखकको बहुत अधिक प्रचारित करता है, वहाँ उसके विचारोंको गम्भीरतापूर्वक विचार करनेमें विघ्न भी उपस्थित करता है। नित्य हजारों किस्मकी इतनी ऊल-जलूल बातें छपती हैं कि उसमें अच्छी चीजका खो जाना ही ज्यादा स्वाभाविक जान पड़ता है। एक अमेरिकन लेखकने उत्तम पुस्तकोंके लिए कहा है कि ये पुस्तकें नित्य छपनेवाले अक्षरोंके महासमुद्रमें छोटे-छोटे द्वीपोंके समान हैं जो कदाचित् ही मिलती हैं।

बलराज जिज्ञासा-वृत्तिको उत्तेजित करना ही बड़ी बात है, पाठ्य-सामग्रीकी स्थायिता या अस्थायिता नहीं। पत्रकार-कलाने अपना काम ठीक ही किया है। स्थायी पाठ्य-सामग्रीका निर्माण साहित्यके अन्य अंगोंका काम है। आप दोनोंको सानते क्यों हैं?

मोहनलाल जी, यह ठीक है कि पत्रोंने पाठकोंकी वृद्धि की है और पाठकोंमें साहित्यकी माँग बढ़ती गयी है। छापेकी मशीनके आविष्कारके साथ-ही-साथ अगर स्टेटकी ओरसे या समाजकी ओरसे इस प्रकारका प्रतिबन्ध लगा दिया जाता कि केवल अर्वाचीन और प्राचीन उत्तम पुस्तकें ही लाखोंकी संख्यामें छापी जायँगी तो क्या अवस्था होती, यह नहीं कहा जा सकता। कुछ विचारकोंका दावा है कि ऐसी हालतमें हमारी वर्तमान पीढ़ी जिस विचार-शैथिल्य और छिछलेपनका शिकार हो रही है, वह नहीं दीखता। पर शायद उस हालतमें स्वाधीन विचार भी नहीं फैलते। जो नहीं हुआ उसके लिए चिन्ता करनेसे कोई फायदा नहीं। सम्प्रति यह सत्य है कि छापेकी मशीनने लेखोंकी माँग बढ़ायी है और ऐसे बहुतेरे लेखक जो वस्तुतः प्रतिभाशाली नहीं हैं, साहित्य-क्षेत्रमें आये हैं और नित्य नयी साहित्यिक चिन्ताको देनेमें असमर्थ होकर और जल्दीके कारण संसारके विचारकोंकी बातोंको केवल सुनकर और उनपर ठीक-ठीक विचार न कर सकनेके कारण बहुत-सी ऐसी बातें

लिखते रहे हैं जो गलतफहमीका प्रचार करती रही है। ऐसे हजारों लेखकोंको पत्रकार-कलाने उत्पन्न और प्रसिद्ध किया है। अपनी ऊट-पटांग बातोंका समर्थन करनेके लिए ये लेखक गत शताब्दीके सामाजिक नारे, वैयक्तिक स्वाधीनताकी दुहाई देते रहे हैं। इस प्रकार साहित्यमें असयत रचनाओंका बहुत अधिक प्रचार हुआ है। प्रत्येक प्रचारने नये प्रचारको जन्म दिया है। वैयक्तिक स्वाधीनताका सिद्धान्त साहित्यमें अबाध भावसे प्रवेश कर गया है। समाजमें उसे बाधाका सामना करना पड़ा है। वह बाधा समाजकी ओरसे भी रही है और प्रकृतिकी ओरसे भी, पर साहित्यमें उसे खुलकर खेलनेका मौका मिला है। इसकी चरम परिणति ससारमें बढते हुए घासलेटी साहित्यके रूपमें हुई है। आचार-निष्ठ लोग इस मनोवृत्तिकी निन्दा करते ही रहे हैं और वह बढती ही गयी है।

बलराज जो प्रवृत्ति इतना अंकुश रखनेपर भी बढती गयी है उसकी जड़ें बहुत गहरी गयी होंगी। आचार-निष्ठ व्यक्तियोंके निन्दा करनेसे वह खोटी नहीं हो जायगी। जो है, वही सत्य है।

मोहनलाल समाजमें निश्चय ही मनुष्यको दो प्रकारके कर्तव्य-पालन करने पड़ते हैं। अपनी रुचि-अरुचि और राग-विरागके मामलेमें वह स्वाधीन है। परन्तु इस रुचि-अरुचिका परिणाम अगर ऐसा हो जो समाजके अन्य अङ्गको क्षति पहुँचाता हो तो वहाँ वह पराधीन है। इन दोनों वृत्तियोंकी चरम सीमाका नाम क्रमशः व्यक्तिवाद और समाजवाद है। व्यक्तिवादने समाचारपत्रोंका आश्रय ग्रहण करके साहित्यमें कुछ दिनोंतक अखण्ड राज्य किया है, क्योंकि इस क्षेत्रमें वह बाधा-हीन-सा था। हालमें ही इसकी प्रतिक्रिया शुरू हुई है। राज्यकी ओरसे पत्रोंपर प्रतिबन्ध तो पुरानी बात है, पर समाजकी ओरसे अभी कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया। पर हवाका रुख जिस ओर है उससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि साहित्यके इस निरंकुश बच्चेका नियमन समाजको अपने हाथमें लेना होगा। आदर्शवादी पत्र एक प्रकारसे समाजके अंकुश ही कहे जा सकते हैं। और मैं बलराजजीके इस मतका प्रतिवाद करना

चाहता हूँ कि जो कुछ है अर्थात् जो कुछ ऊपर-ऊपरसे दिखाई देता है वही सत्य है। पुराने दार्शनिक पण्डित कहा करते थे कि प्रत्यक्ष कोई प्रमाण नहीं है, अनुमान प्रत्यक्षसे भी गहरा प्रमाण है। मैं कहता हूँ, यह भी ऊपर-ही-ऊपरकी बात है। जिस प्रकार विकल इन्द्रिय द्वारा देखना ठीक देखना नहीं है उसी प्रकार तामस चित्तका अनुमान गलत और सदोष है। बुद्धि भी बाहरी ही करण है यद्यपि अन्याय इन्द्रियोंकी अपेक्षा वह अधिक भीतरी है। इन सबसे अतीत है आत्मा

**इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।**
**मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥**

आत्मानुभूति ही सच्ची अनुभूति है। आचारनिष्ठ कहे जानेवाले लोगोंमेंसे अधिकांश जब इस गर्हित नीतिका या उस अनुचित परिपाटीका विरोध करते है तो मन और बुद्धिका आश्रय लेते हैं। वे भी सतहके सदाचारको ही प्रधानता देते हैं। सचाई और भी गहरेमे होती है। सगीनने जिस साहित्यके अगका अधिक प्रचार किया है उसने हमारे बाह्यकरणोंको ही उत्तेजना दी है। हमने सस्ती युक्तियोंका आश्रय लिया है, सतहपरके सदाचार और दुराचारको ही बड़ी बात समझना शुरू किया है। यह गलत रास्ता है।

बलराज बिलकुल उलटी बात कह रहे है आप। आत्मा यदि सचमुच ही कुछ है तो वह बाह्य करणोंका ही विकास है। विकास-परम्पराको एक बार ध्यानसे देख जाइये तो आपको मालूम होगा कि इन्द्रियाँ बहुत बादके विकास हैं, मन और भी बादका और बुद्धि उसके भी बाद। आत्मा नामक कोई पदार्थ यदि सचमुच ही हो तो वह बहुत हालका विकास है। ये जितने भी सूक्ष्म हों, हैं स्थूलपर आधारित। मौलिक सत्ता स्थूल जड़ देह है, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा उसके विकार हैं। स्थूल देहके आकर्षण-विकर्षणको ही जटिल रूपमे आप शास्त्रों, दर्शनों और योग-क्रियाओंमें पाते हैं। आत्मा ही असलमे ऊपरी सतह है।

रत्नाकरजी तो तुम, बलराज, मनुष्य की उच्चतर वृत्तियोंमे विश्वास

नहीं रखते ?

बलराज क्यों नहीं रखता हूँ। मनुष्यकी सर्वोच्च वृत्ति यही है कि वह मनुष्य है हाड़ चामका मनुष्य !

पण्डितजी मनुष्यकी सर्वोच्च वृत्ति यही है कि वह मनुष्य है हाड-चामका पशु नहीं !

पंडित कमलेश शर्मा (प्राचीन साहित्यिक) और पण्डित बिहारीलालजी (पुराने समालोचक) तथा श्री० विमला तिवारी का प्रवेश।

कमलेशजी वाह, सभा तो खूब जमी है। हाथमें कौन-सी पुस्तक है बलराज? मार्क्सकी कोई नयी पुस्तक निकली है क्या? (हँसते हैं)

बलराज (प्रणाम करके) नहीं पण्डितजी, मतिराम-ग्रन्थावली है !

कमलेशजी मतिराम ग्रन्थावली? क्या हो गया तुम्हें बलराज, छिः-छिः, यह भी कोई पढ़ने लायक पुस्तक है? अरे कोई प्रगतिवादी रचना लेते, खास रूसमें रची हुई !

बिहारीलालजी आप तो पण्डितजी, सब समय कटाक्ष ही करते रहते हैं। लड़केने पुस्तक ली तो मजाककी क्या जरूरत है? क्यों बलराज, तुम्हें ये पुस्तकें कुछ अच्छी लगने लगी हैं? इनका भी अपना रस है। पढ़ोगे तो नितान्त वञ्चित नहीं रहोगे। कुछ-न-कुछ अवश्य प्राप्त होगा। बुरा क्या है?

बलराज जी, बुरा तो मैं कभी नहीं कहता। मगर इन पुस्तकोंको दो पेजसे आगे कभी पढ़ ही नहीं पाता। पन्ना खोलते ही इसमें बड़े भोंड़े किस्मकी एरिस्टोक्रेसी (रईसी) की बू आने लगती है। नायिकाएँ हैं कि सिंगार-पटारमें उलझी ही रहती हैं, वियोगिनियाँ हैं कि उसाँसे लेती ही रहती हैं, नायक हैं कि प्रियाओंकी मिजाजपुर्सीके मारे दम ही नहीं ले पाते। इसे आप कविता कहते हैं? जीवनसे विच्छिन्न, वास्तविकतासे दूर, पैरासाइट (परोपजीवी) लोगोंकी खुशामदसे भरपूर ! एरिस्टोक्रेसीका इतना भद्दा रूप शायद ही कहीं देखनेको मिले !

मोहनलाल (धीरेसे) एरिस्टोक्रेसीकी मुहर लगा देनेसे ही कोई

चीज खराब क्यों हो जायगी ?

रत्नाकरजी हो सकती है, अगर शब्दका प्रयोग बे-समझे-बूझे किया जाय। एरिस्टोक्रेसीका अर्थ क्या है—पैसा ? बिल्कुल नहीं। गागा पंसारी इस कसबेमें सबसे अधिक पैसेवाला आदमी है, पर वह क्या रईस है ? नहीं। क्योंकि रईसी उसके रक्तमें नहीं है। एरिस्टोक्रेसीका सम्बन्ध रक्तसे है। भद्दा नाम क्यों देते हो ? अपना देशी नाम देकर देखो तो इस चीजकी महिमा साफ समझमें आ जायगी। यह शब्द है कौलीन्य। शरीर, मन और आत्मा, तीनोंकी कुलीनतासे रईसी आती है। यह एक दिन में पैदा नहीं होती। इसे भी कल्चर करना पड़ता है। कई पुश्तोंकी साधनासे यह चीज बनती है। तुम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे सहृदयकी कल्पना भी एक दरिद्र किसानके घरमें कर सकते हो ? हरिश्चन्द्र कुलीनताकी देन थे, रईसीसे उपजे थे। रवीन्द्रनाथ क्या एरिस्टोक्रेट नहीं है ? इतिहास देखो। बड़े-बड़े सभी आन्दोलन रईसोंने शुरू किये है। चाहे वे जनक हों, बुद्ध हों या गाधी हों।

बलराज आप बुजुर्ग हैं। बुरा न माने तो आपकी पीढ़ीके सभी लोगोंमे यह एक बड़ा भारी दोष था कि वे समाजके कुछ गिने-चुने व्यक्तियोंका नाम लेकर उसपरसे सामान्य नियम निकाला करते थे। यह एकदम अवैज्ञानिक बात है। जो आर्थिक व्यवस्था आजतक चली आ रही है, उसमें यही सभव था। आप जिस चीजको प्रतिभा या कला या सहृदयता नाम दे रहे है, वह सब आपकी रईस-प्रधान समाज-व्यवस्थाकी कल्पना है। आपने पहले तो एक ऐसी परिभाषा बनायी, जो आपके सस्कारोंके अनुकूल है, फिर बादमे ऐसे व्यक्ति ढूँढे, जो उस परिभाषाके उदाहरणके लिए पूरे उतरते है। असलमे व्यक्तिको आप लोगोंने जो प्राधान्य दिया है, वह आवश्यकतासे बहुत अधिक है। आखिर, व्यक्ति परिस्थितियोंसे ही तो बनते हैं। सत्रहवीं शताब्दीमे कोई गॉधी क्यों नही हो गया ? और बीसवीं शताब्दीका बन्दा बैरागी कै दिन अपनी शूरता दिखा सकता है ?

कमलेशजी कुछ फिक्र मत करो, बेटा ! तुम्हारे लड़के भी तुम्हें ललकार कर कहेंगे कि आप लोगोंकी पीढ़ीमे यह एक बड़ा भारी दोष था कि सभी बहकी-बहकी बाते किया करते थे। कोई ऐसी चीज जिसे छुआ जा सके, देखा जा सके, समझा जा सके, उनके दिमागसे निकली ही नहीं।

मोहनलाल तबकी बात तब देखी जायगी। अभी तो आप बलराजकी बातोका कोई ठोस जवाब नहीं दे रहे हैं।

कमलेशजी देता हूँ, घबराओ मत; हमारी पीढ़ी व्यक्तिपर विश्वास करती थी। व्यक्तिके बिना तुम किसी जातिके इतिहासकी कल्पना कर सकते हो ? तुम क्या हिंदुओंके एक ऐसे इतिहासकी बात सोच सकते हो, जिसमें कालिदास और भवभूति न हो, तुलसीदास और बिहारी न हों, हर्ष और राणाप्रताप न हो ? तुम परिस्थितियोंकी बात कर रहे थे। शिवाजीके अनुकूल कौन-सी ऐसी परिस्थितियाँ थीं जो शिवाजीको पैदा कर सकीं ? इतिहास साक्षी है कि दरिद्रता, हीनता और बंधनोंमें ऐसे महापुरुष पैदा होते हैं, जो जबर्दस्त-से-जबर्दस्त सत्ताधारियोकी कीर्ति छीन लेते हैं। जो काम बडे-बडे सम्राट् अक्षर-बहुल कवित्त-जैसी वाहिनियोंसे नहीं कर पाते, वह वे दोहेकी दुनालीसे कर डालते हैं। व्यक्तियोने इतिहास बनाये है, व्यक्तियोंके कारण मरी हुई जातियोंमें जान आयी है, व्यक्तियोंके कारण ही जीती हुई जातियाँ नष्ट हो गयी हैं। सही बात तो यह है कि व्यक्तियोके बिना जातिका कोई अर्थ ही नही होता। आज जो बडे-बडे आविष्कार हुए है, वे किनके करते ? निश्चय ही कुछ थोडेसे लोकोत्तर प्रतिभाशाली व्यक्तियोके कारण। तुम नही मानते ?

मोहनलाल आप, शायद आविष्कारोके द्वारा जो प्रगति हुई है, उसकी ओर इशारा करना चाहते है ?

कमलेशजी हाँ, और प्रत्येक आविष्कारके पीछे एक व्यक्ति है, जिसको परिस्थितियोंने कभी-कभी एकदम सहायता नही पहुँचायी है, उल्टे बाधा पहुँचायी है।

बलराज व्यक्तिकी बात आप व्यर्थ ही जोड़ रहे हैं। आविष्कारोकी बात ठीक है। प्रत्येक आविष्कारके पीछे कोई-न-कोई आर्थिक कारण रहा है। मनुष्यको जीवनकी लड़ाईमे जब बाधा प्राप्त हुई है, तो उसने उसका प्रतिकार किया है। चूहे भी लोकोत्तर चमत्कारकारी आविष्कार किया करते है। मनोविज्ञानकी प्रयोगशालामे ऐसे आविष्कारोंके अनेक रेकर्ड हैं। आप विश्वास माने, जब चूहा अंधकारमे बिजलीके धक्केसे बचकर निकलनेका मार्ग ढूँढ़ता है, तो चूहोंकी दुनियामे वह न्यूटन और कोपरनिकसके स्थानका ही अधिकारी होता है। जो आर्थिक व्यवस्था चल पड़ी है, उसमेसे बहुत कम लोग आविष्कार करनेकी योग्यतावाले निकल पाते है। अधिकाश लोग इसी योग्य होते है कि मजूरी करते रहे और पेट भरते रहे। मै दो सौ आविष्कारकोका नाम आपको बता सकता हूँ, जो और परिस्थितिमे होते तो भाड़ झोकते होते। प्रतिभा तो बहुत बिखरी हुई है, पर सुयोग कहाँ है ?

बिहारीलालजी भई, व्यक्तिकी प्रधानता तो मुझे भी स्वीकार है। मैंने इतिहास पढ़े हैं और लिखे भी है। मेरी अपनी राय यह है कि प्रतिभा नामकी एक शाश्वत वस्तु है, जो कभी इस व्यक्तिमे और कभी उस व्यक्तिमे प्रकट होती है। शेक्सपीयर और देव दो बिलकुल भिन्न परिस्थितियोमे पैदा हुए थे, पर, प्रतिभाका विकास दोनोमे समान भावसे हुआ।

कमलेशजी (गुनगुनाकर) 'काह कहौं तुम्हे बागकी गैलमे गीत मदारिनके लगे गावन।'

रत्नाकरजी प्रत्येक आविष्कारके पीछे आर्थिक कारण हुआ करता है! क्यो बलराज, तुम यही कह रहे थे न ? मै तुम्हारी बात समझनेकी कोशिश कर रहा हूँ। संगीतके विषयमे तुम्हारी क्या राय है? बैजू बावराने या तानसेनने जिन नये सुरोका अविष्कार किया था, उनके पीछे भी पेटकी चिंता थी ? और कविता ? तुलसीदासने रुपयेके लिए कविता लिखी ?

बलराज जी हाँ, मैं कहता यह था कि आदमीने जो कुछ भी अविष्कार किया है वह पेटके लिए, पर मेरी बात स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए एकाध घटेकी बात पर्याप्त नहीं है। मुझे भय हो रहा है कि आपकी पीढ़ीके लोग उसका मजाक उड़ायेंगे।

कमलेशजी तुम समझते हो कि ज्ञानका ठेका तुम्हीं लोगोंने ले रखा है

**मगर एक इल्तमास इन नौजवानोंसे मैं करता हूँ।**
**खुदाके वास्ते अपने बुजुर्गोंका अदब सीखें॥**

पण्डितजी बलराज, तुम अपनी बात साफ-साफ क्यों नहीं कहते? आखिर इन वृद्ध आचार्योंको विचार करनेका मौका भी तो दो!

कमलेशजी तो जनावमन्, आप ही क्यों नहीं समझा देते? बूढ़ोंको कुछ अक्ल तो हो जाय!

रत्नाकरजी हाँ पण्डितजी, तुम्हीं कहो; मैं मजाकके मूडमें नहीं हूँ।

पण्डितजी मैं नहीं जानता कि बलराज इसका क्या उत्तर देंगे, मर, जो लोग उनकी तरह युक्ति पेश करते है, वे जो कुछ कहते हैं उसे मैं बता सकता हूँ। आपको किसी वस्तुके वास्तविक कारणको समझना हो तो आजकी जटिल समाज-व्यवस्थाके उपयुक्त उदाहरण व्यक्ति नहीं होंगे। आप आदिम युगके मनुष्योंके समाजकी कल्पना करें। संगीत क्या है? मनका विश्राम! खेतोंमें दिनभर काम करते-करते थकी हुई मजदूरिने गाती हुई घर जाती हैं, गाती हुई खेतोंमे काम करती है। गाना उनका उद्देश्य नहीं होता। उद्देश्य आर्थिक है। गाना अपने आप उनको आराम पहुँचानेके लिए आर्थिक उद्देश्यकी पूर्तिकी सहायताके लिए बन जाता है। वह कोल्तार और साबुनकी भाँति फोकटकी पैदावार है बाई प्रोडक्ट है और चीजोंको बनाते-बनाते अपने आप बन गयी हुई चीज है। इसीलिए इसके पीछे भी आर्थिक कारण नहीं है ऐसा तो नहीं कह सकते। क्यों बलराज?

बलराज बिलकुल ठीक कहते है आप, जिसको आप आविष्कार

कहते हैं, वह कोई एक दिनमे निकली हुई चीज नहीं होती । सदियोसे उसकी तैयारी होती रहती है। उस सिलसिलेकी अन्तिम परिणतिको आप आविष्कार कहते है। यह आविष्कार स्वयं अन्य आविष्कारका कारण होता है। अगर किसी भी आविष्कारकी आप छानबीन करे, तो आपको पता चलेगा कि सदियोसे पेटकी मारके कारण आदमी उस बातको खोज निकालनेके लिए सिर मार रहा था।

रत्नाकरजी शाबाश बेटा, मै तुम्हारी बात समझ रहा हूँ। तुमने पतेकी बात कही है। जरा-सी गलती तुमसे हो गयी है। तुम जिसे पेटकी मार कहते हो, आर्थिक आवश्यकता कहते हो, उसे मै जीवनकी आवश्यकता कहना चाहता हूँ। आर्थिक आवश्यकता उसका एक हिस्सा है। बहुत-से आविष्कार और बहुत-सा इतिहास प्रेमके कारण हुआ है। तुम नहीं मानते ?

बलराज आप मतिराम-ग्रन्थावली जैसे आविष्कारोकी बात कहते होगे ?

रत्नाकरजी अबकी बार तुम्हारा पलड़ा हलका होता जा रहा है। गम्भीर प्रसगमे मजाक छेडना हारनेका लक्षण है। हॉ, मै मतिराम-ग्रन्थावली जैसे आविष्कारोंकी भी बात कह रहा हूँ। तुम शायद उस बातको आविष्कार नहीं मानना चाहते जिसमे यान्त्रिक होशियारी न हो। परन्तु याद रखो कि यन्त्रगत दक्षता मनुष्य नहीं बनाती। एक बन्दर अगर साइकिलपर चढ़ने लगे और सिगरेट पीने लगे तो भी वह बन्दर ही रहेगा। मै यान्त्रिक आविष्कारको खोटा नही कहता; पर वही एकमात्र सत्य नहीं है। दुनियामे उससे बडी-बड़ी बाते भी हैं। आज जिसके पास अधिक-से-अधिक भयकर वैज्ञानिक उपज है, वही सभ्य कहला रहा है, चाहे उसमें पशुता अपनी चरम सीमाको पहुँच चुकी हो। यही वर्तमान युगका सबसे बड़ा अभिशाप है। वह वस्तु जो हृदयको मुलायम बनाती है, जो पर-दुःखकी समवेदना देती है, तुम्हारी सभ्यतामे बहुत नगण्य मानी जाती है। काव्य ऐसी ही वस्तु है। वह एरिस्टोक्रेसी या ऑटोक्रेसीकी

खुशामद नहीं करती। वह मनुष्यके हृदयको कोमल बनाती है, उसे दूसरोंकी पीड़ाके प्रति सहानुभूतिशील बनाती है। तुम्हारी यान्त्रिक सभ्यता दानवी मशीनकी ताकत रखती है और संसारको मशीनसे अधिक नहीं समझने देती। मतिराम-ग्रन्थावली उसकी शाश्वत प्रतिद्वन्द्विनी है। वह मृदु और दृढ कण्ठसे कह रही है कि यान्त्रिकताका दर्प बहुत दिनतक नहीं टिकेगा, मैं अभी जीवित हूँ।

मोहनलाल हम मूल प्रश्नसे दूर हो गये। बलराजजीका प्रश्न जहाँका तहाँ है।

रत्नाकरजी मुझे याद है, मैं उसी प्रश्नपर आ रहा हूँ। शर्माजीने व्यक्तिकी महिमा बतायी थी और बलराजने कहा था कि व्यक्ति परिस्थितियोंकी उपज है। मै दोनोको मानता हूँ, इसीलिए मेरी बात तीसरी हो जाती है। मैं मानता हूँ कि व्यक्ति ही देशका नक्शा बदल देते है, परन्तु ये व्यक्ति अपने आप नहीं पैदा हो जाते। उनके लिए उपयुक्त परिस्थिति और उचित वातावरणकी जरूरत होती है। व्यक्तियोको भी सुन्दर मूर्तियोकी भाँति ढालना पडता है। संसारके अर्थशास्त्रियोसे पूछो तो शायद वे बतावे कि अगर सब धन सब लोगोंमे बराबर बाँट दिया जाय तो भी सब लोग औसत आरामके ढगपर नही रह सकते। हजारो आदमियोको आधपेट भोजन देकर जिलाये रखनेकी अपेक्षा यह अच्छा है कि कुछ परिवारोंको सदियोतक ऐसी सुविधाएँ दी जायँ, जिससे ऐसे पुरुष उत्पन्न हो, जो ससारको ऊपर उठा सके, जो सर्वसाधारणकी सुख-सुविधाके उत्तम साधन ढूँढ निकाले। जंगली जातियाँ, जिनमें ऐसी रईसी नही उपजी, अबतक जहाँकी तहाँ पडी हुई है। साम्यवादने उनको असभ्य अवस्थामे रहनेको बाध्य किया है। दूसरी तरफ उन जातियोंको देखो जो साम्राज्यवादी हैं, जो सामन्त-बहुल हैं, जो रईसीकी कदर करती हैं। इन्होंने ही ससारको वह सब कुछ दिया है, जिसे तुम मनुष्यता कहते हो, कला कहते हो, काव्य कहते हो, दर्शन कहते हो। भारतवर्ष ऐसा ही देस है, ग्रीस और रोम ऐसे ही थे, इङ्गलैण्ड और फ्रासका यही किस्सा है। क्यो

मोहनलाल, हम प्रश्नसे दूर तो नहीं जा रहे हैं न ? तुम्हारे अधरोष्ठ फड़क रहे हैं। तुम कुछ कहना चाहते थे क्या ?

मोहनलाल जी, मैं आपकी बात समझनेकी कोशिश कर रहा हूँ। आप वृद्ध लोगोंके सामने हमारी क्या हस्ती है ?

कमलेशजी तुम शौकसे अपनी बातें कहे जाओ बेटा! नाराज होनेवाले खूसट कहीं और होंगे।

मोहनलाल जी, रत्नाकरजीकी बात दो कारणोंसे मेरी समझमें नहीं आ रही है। एक तो अगर उनकी बात मान ली जाय तो यह समझमें नहीं आता कि किसी खास परिवारको सदियोंतक सुविधा देनेसे अच्छे आदमी ही कैसे पैदा हो सकते हैं। बुरे भी तो हो सकते हैं और इतिहासमें इस बातका सबूत है कि बुराइयाँ इस प्रथासे जितनी पैदा हुई हैं, उतनी भलाइयाँ नहीं। जिनको आपने अभी सद्गुणके रूपमें गिनाया है; उनकी अगर तह खोल-खोलकर जाँचकी जाय तो मेरी बात ज्यादा स्पष्ट हो जायगी। कविताकी बात ही लीजिये और उसमें भी हमारी आलोच्य कविता रीति-काव्यकी। परकीयाओं और सामान्याओंका जो यह निर्दोष कलापूर्ण चित्रण है, उसके मूलमें क्या है? रईसीकी उच्छृङ्खल कामवासना। जिस समय रईसी अपने चढ़ावपर नहीं आयी होगी उस समय इस प्रकारकी वासना निश्चय ही गर्हित मानी जाती रही होगी; पर रईसीने जीवनमें उसका उपभोग ही नहीं किया; इस भयंकर कुरीतिको इस प्रकार विज्ञापित किया, मानो वह एक गुण है। जनसाधारण विश्वास करने लगा कि रईस हैं इसलिए ऐसी सुन्दर कविता बन रही है। तो पहला कारण जो आपकी बात समझी जानेमें बाधक है, वह यह है कि आप पहले मान लेते हैं कि यह कविता अच्छी है, वह कला अच्छी है, साम्राज्य फैलाना अच्छा है, और तब आप इनके कारणस्वरूप रईसी प्रथाका समर्थन करते हैं। रीति-काव्यमें जो कुछ भी अच्छा समझा जाता है, उसकी जाँच कीजिये, आपको फौरन पता चल जायगा कि शुरू-शुरूमें वह किसी रईसी बुराईके रूपमें थी। मुझे आप गलत न समझियेगा। मैं बुराई और भलाईके

शब्दोंका व्यवहार उनके रूढ़ि-समर्थक अर्थोंमे कर रहा हूँ । ऐसा करनेसे मेरा अभिप्राय यह है कि आपको विश्वास दिला सकूँ कि रईसी प्रथाने जिनको बुराई समझा है, उन्हे भलाईके नामपर उत्तेजन भी दिया है ।

बलराज आप अपने दूसरे कारण भी कह जाइये ।

मोहनलाल जी, दूसरा कारण ही अधिक महत्वपूर्ण है । आपने (रत्नाकरजीने) जो बात बतायी वह वही चीज है जिसे किसी तथा-कथित गांधीवादीने अत्यन्त भद्दे तरीकेपर 'आरामकी सभ्यता' नाम दे दिया है । खैर, पुराने जमानेमे क्या हुआ था, इसका तो मै या आप केवल अनुमान ही कर सकते है, लेकिन हमारी आँखोके सामने जो कुछ घट रहा है, उसीपरसे अन्दाजा लगाया जाय तो आपकी बातोमे सा ्वना पाने लायक कुछ नहीं रह जाता । मशीने बनी थी तो बड़े-बडे विचारकोने उम्मीदे बाँधी थी कि ससारका बहुत परित्राण हो जायगा । मशीने कम समयमें अधिक माल तैयार करेंगी और इस प्रकार अधिकाधिक फुरसत मिलेगी और लोग ज्यादातर चिन्तन और मननमे समय व्यतीत करेंगेऔर ऐसी बहुत-सी समस्याएँ, जो अभीतक हल नहीं हो सकी हैं, चुटकी बजाते हल हो जायँगी । पर हो क्या रहा है ? मैं समझता हूँ, मशीनोने हमारी चिन्ताको बहुत पीछे ढकेल दिया है । कुछ थोडे-से लोगोको इतनी अधिक सुविधा मिली है कि वे दिन-रात ऐसे महापापोकी फिक्रमे व्यस्त रहते हैं, जिनसे जिंदगीमें कुछ लज्जत आ जाय । दूसरी तरफ भुक्खड़ मजदूरों और किसानोके कंकाल है, जो दिनभर जान लडाकर भी पेट नहीं भर पाते । इस आराम और सुविधाने वैयक्तिक अर्थनीतिको इतना प्रबल बना दिया है कि विराट् जनसमूहोंका भाग्य मुट्ठीभर खाली दिमाग और भरी गाँठके आदमियोके हाथमे है । इसमें शरीर, मन और आत्माकी कुलीनता तो सिद्ध हो चुकी, इनकी कब्र जरूर तैयार हो रही है । मैं मानता हूँ कि फुरसत समस्त कला, विज्ञान और दर्शनोकी जननी है, पर इस फुरसतका अर्थ कामका अभाव नहीं है । आप जिन परोपजीवी पैरासाइटोंकी वकालत कर रहे हैं, उनके पास अभावरूप फुरसत होती है ।

गुस्ताखी माफ हो तो आप इस प्रकारके लोगोंका पक्ष लेकर कार्यकी महिमा कम कर रहे है। परिश्रम अपने आपमे एक तपस्या है।

बलराज वाह भाई, वाह, आपने बडी शानदार बात कही है, सुनकर तबीयत साफ हो गयी। इतना और जोड दीजिये कि इस अभावरूप फुरसतके इर्द-गिर्द जो कला और दर्शन उत्पन्न होते है, वे भी अभावरूप होते है। धनिकतन्त्र आपकी ऐसी कला, ऐसी फिलासफी या ऐसी तर्क प्रणालीको पनपने ही नही देगा, जो धनिकतन्त्रके विरुद्ध पड़े। उसने सत्-असत्की अपनी परिभाषाएँ बना रखी है, तुम अगर कविता लिखो तो उस परिभाषाके अनुसार ठीक उतरनी चाहिये, दर्शन लिखो तो उस अर्थ-चक्रके अनुकूल होना चाहिये। वस्तुतः रीति-काव्य वही वस्तु है जिसमे कवि स्वतन्त्र भावसे कुछ चिंता नही करता। उसे समाजकी ओरसे बनी-बनायी, गढ़ी-छिली शब्दावली मिल जाती है, परिभाषा प्राप्त हो जाती है और उसीपरसे वह अपना छकडा हॉक देता है। यह गलत बात है कि रीतिकाल सत्रहवी शताब्दीसे शुरू होता है। वह हमेशा रहता है, कभी दबकर, कभी जमकर। आजकल क्या वह कही चला गया है? छाया-वादियोंके अनन्तके पथपर वह क्या जम नही गया है?

पण्डितजी मेरा ख्याल है बलराजजी, कि हमने मूल विषयको छोड़-कर अवान्तर बातोंपर ही बहुत बहस की है

कमलेशजी जमाना ही लपक-झपकका है।

पण्डितजी आप अगर रीति-काव्यपर जानने योग्य प्रामाणिक पण्डितों-के मत सुनना चाहते हैं तो आज की इस बैठक मे सौभाग्यवश उपस्थित पण्डितोंकी उपस्थितिका पूरा-पूरा फायदा उठाना चाहिये। रत्नाकरजीकी बात भी हमने आधी ही सुनी है, समझी उसकी भी आधी है। उन्होंने शुरू-मे ही शरीर, मन और आत्माके सुसस्कृत होनेकी बात कही थी, वह हमने भुला दी है। उन्होंने सयमकी बात उठायी थी, उसकी ओर हमने ध्यान ही नहीं दिया। पहले हमे मूल विषयको समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। फिर उसे वृहत्तर जीवनकी पटभूमिकापर रखकर जॉच करनेकी हमे स्वाधी-

नता रहेगी। अबतक हमने आप लोगोंकी बात सुनकर जो कुछ समझा है, उससे इस विषयमे तो सन्देह नही रह जाता कि रीति-काव्यमे रईसाना समाजकी चू है। फिर यह भी निश्चित है कि व्यक्ति इस समाजमे प्रधान वस्तु है, पर अगर मतिराम-ग्रन्थावलीको एक बार अत्यन्त ध्यानपूर्वक भी पढ़ जाइये, तो यह पता नहीं लग सकेगा कि यह व्यक्ति मतिराम कौन है, उसने दुनियाको क्या देखा और कैसा देखा ? उसको कोई कायदा-कानून अच्छा-बुरा लगा भी या नही ? सब कुछ एक टाइपकी बात है। नायिकाओंके टाइप हैं, नायकोंके टाइप है, आनन्द और हर्षके टाइप हैं, कष्ट और वियोगके भी टाइप है। विहारीकी अपेक्षा मतिरामने व्यक्तिगत दृष्टिसे क्या विशेष देखा था या कितना विशेष देखा था, इसका कोई जवाब साधारण पाठक नहीं खोज सकता। इन विद्वानोंसे हमे ऐसे ही विषयोंकी चर्चा चलानी चाहिये थी। फिर, हमे यह भी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये कि इतिहासके विशाल पटपर इस जातिके काव्यका कोई महत्त्व है-भी या नही। मुझे तो इस काव्यकी नैतिकता, ईश्वर, धर्म, समाज सबके विषयमें प्रश्न सूझ रहे है; पर मैं जानता हूँ कि प्रश्नोंसे समस्याओंकी मूल भित्तितक पहुँचनेकी जर्नलिस्टिक रीति सर्वत्र फलप्रसू नही भी होती। हमे प्रश्नोका तॉता न बॉधकर कुछ खास विषयोपर इन पण्डितोंकी बाते सुननी चाहिये।

बलराज अर्थात् आप वृहत्तर जीवनसे काटकर इसे अलग रखकर डिसेक्ट ( चीड-फाड़ ) करना चाहते है।

पण्डितजी बिल्कुल नही, मैं किसी वस्तुको असीम काल-प्रवाहके भीतरसे देखनेका पक्षपाती हूँ। मैं मानता हूँ कि प्रत्येक घटना पूर्ववर्ती घटनाका परिणाम है। वह अपने आपमे बुरी भी नही है, भली भी नहीं है। अगर किसी भी घटनाको वह कितनी ही नगण्य क्यों न दिखती हो हम ठीक-ठीक समझ सके, तो उसकी पूर्ववर्ती घटनाको समझ सकते हैं और परवर्ती घटनाका अनुमान कर सकते हैं। परवर्ती घटनाओंका अनुमान लगाते समय या पूर्ववर्ती घटनाका स्वरूप निर्णय करते समय हमे

पार्श्ववर्ती अन्य घटनाओंका भी ध्यान रखना चाहिये। जितना ही हम इन पार्श्ववर्ती घटनाओंको ठीक-ठीक समझ सकेंगे, अभीष्ट-निर्णयमें हमें उतनी ही सफलता मिलेगी। मैं किसी वस्तुको अपने आपमें स्वतन्त्र नहीं मानता ईश्वर और आत्माको भी नहीं। परन्तु मेरी पहली और अन्तिम शर्त यह है कि जिस वस्तुकी जाँच करनेके लिए हमने प्रयत्न शुरू किया है उसका यथार्थ स्वरूप हमें मालूम हो जाना चाहिये। यह तभी हो सकता है, जब उस वस्तुके जितने सम्भव हो उतने अवयव अलग-अलग करके हम ब्योरेवार उसकी पड़ताल कर लें। ऐसा करते समय आपाततः ऐसा लग सकता है कि हम उक्त वस्तुको स्वतन्त्र और अन्यनिरपेक्ष माननेकी गलती कर रहे हैं, पर बात ऐसी नहीं है। बगीचेकी सुगन्धित हवाकी सुगन्धिका विश्लेषण करना और उसे समस्त वायुमण्डलसे विच्छिन्न समझना एक ही बात नहीं है।

वत्सराज मैं आपकी बात समझ रहा हूँ। पर मुझे भय इस बातका है कि गुरुजनोंसे मैं पहले ही क्षमा माँग लूँ, जो लोग व्यक्तिवादी होते हैं या स्वतन्त्र आत्माके स्वतन्त्र कर्तृत्वमें अतिरिक्त विश्वास-पोषण करते हैं, वे बिस्मिल्ला ही गलत बोल देते हैं। यह नहीं कि परवर्ती घटनाको देखकर पूर्ववर्तीका स्वरूप-निर्णय करें, बल्कि यह कि न जाने कबकी सड़ी-गली परिभाषाओंपरसे परवर्ती घटनाका स्वरूप-निर्णय करते हैं। यह बात अत्यन्त हास्यास्पद तब हो जाती है, जब इन वस्तुओंका स्वरूप इनके भी बाद बनी परिभाषाओंपरसे निर्णीत करनेका प्रयत्न किया जाता है। एक उदाहरण दूँ बुद्धि रखनेवाले सभी जानते हैं कि साहित्यदर्पणमें महाकाव्यका जो लक्षण दिया हुआ है, जिसमें एक प्रख्यात वंशके कई वीर पुरुषोंका काव्यका नायक हो सकना स्वीकार किया गया है, वह कालिदासके रघुवंशको देखकर उद्भावित हुआ था। परन्तु, आजकल कई टीकाकारोंने रघुवंशके काव्यत्वका प्रमाण उसी लक्षण-श्लोकको बताया है। यह कितनी बेतुकी बात है!

कमलेशजी क्या कहना है!

बलराज हाँ, और यह दूसरी बात भी हमे खटकती है। आप किसी चीजको महज विस्मयादिबोधक अव्ययो और वाक्योके प्रयोगसे बढ़ा या घटा देते है। शर्माजी इस प्रथाके जनक हैं। केवल यह कहकर कि 'कल्पनाकी कितनी ऊँची उड़ान है!' आप किसी वस्तुका स्वरूप नही निर्णय कर सकते। मैं तो कहता हूँ कि ऐसा करके आप उसे दुर्बोध्य बना देते है। मै आप लोगोंकी उस आतङ्कवादिनी शैलीको भी बहुत खतरनाक मानता हूँ, जो केवल पाठकोंको आतङ्कित करके बुरी तरह रगड देती है। मै यह नहीं जानना चाहता कि 'क'ने हावोकी कैसी सुन्दर योजना की है या 'ख'ने बिब्बोकोका कैसा प्रदर्शन किया है, मैं हावो और बिब्बोकोको महत्त्व देनेवाली मनोवृत्तिका विश्लेषण चाहता हूँ।

पण्डितजी- आपने इन पण्डितोको ठीक नही समझा बलराजजी! किसी वस्तुके स्वरूपका निर्णय करना और उसे तीव्र भावसे अनुभव करना एक ही बात नहीं है। निर्णयके प्रसगमें विस्मयादिबोधक अव्यय बाधक होते है, तीव्र भावसे अनुभव करानेके प्रसङ्गमें नहीं। शर्माजीने निर्णयकी ओर कम ध्यान दिया है, अनुभव करानेकी ओर अधिक। उन्होने मान लिया था कि जिस सुकुमारताको, जिस शालीनताको और जिस भगिमाको वे अच्छी मानते हैं, उन्हे आप भी वैसा ही मानते हैं। पर, आज जब उन्हे हमने इस बातका अवसर दिया है कि वे उन बातोको हमे 'अच्छीके' रूपमे समझा दें तो उतावलेपनकी क्या जरूरत है! और बातको भी आपने अतिरञ्जित रूपमे रखा है। क्या रूपहीन चिन्ताओको रूपहीन परिभाषाओंमें कहना गलत ढंग है? वे जब हावों और बिब्बोकोका नाम लेते है तो इसलिए नहीं कि पाठक दबक जाय या आतङ्कित हो जाय, बल्कि इसलिए कि कमसे कम शब्दोमे अधिकसे अधिक बात कह सके। बेशक आपको उन्हीके मुँहसे उन हावो और बिब्बोकोंके पीछे काम करनेवाली मनोवृत्तिकी व्याख्या सुननेका हक है। मै समझता हूँ, वे हमे निराश नहीं करेंगे।

श्रीमती तिवारी मैं बडे धैर्यसे अबतक आप लोगोंकी बात सुनती

रही, पर मुझे ऐसा लग रहा है कि आप लोगोंने वास्तविक बातको छुआ ही नही। रीति-काव्यमे स्त्रीका इतना अधिक, इतना गलत और इतना वाहियात चित्रण है कि वह स्वयमेव अपना प्रतिवाद हो गया है। आपने सोचा ही नही कि जिस काव्यकी चर्चा आप करने जा रहे है, वह वस्तुतः एक विराट् शून्य है, एक गंदा जजाल है, एक मिथ्या ढकोसला है।

रत्नाकरजी आपने विषयको बिलकुल दूसरे कोणपरसे देखा है। वहाँसे देखिये तो आपको स्त्री-चरित्रकी अपेक्षा रीति-काव्यका पुरुष-चरित्र अधिक हीन, अधिक असत्य और अधिक वाहियात दीखेगा। परन्तु, किसी वस्तुको किसी खास कोणसे देखना, सही देखना नहीं है।

कमलेशजी मगर श्रीमती तिवारीका दृष्टिकोण एकदम उड़ा देनेकी चीज नही है। उसकी भी क्यो न जॉच हो ?

रत्नाकरजी कोई हर्ज नही, मै केवल उस दृष्टिकोणकी बात कह रहा था। वस्तुकी यथार्थता उसकी समग्रतामेसे प्रकट होती है, इस या उस पार्श्वकी स्थितिपरसे नही।

रत्नाकरजी हॉ पण्डितजी, तुम साहित्यकी बात कहते-कहते इतिहासकी बात कहने लगे थे। तुम्हारी बात कुछ ठीक समझमे नही आती। क्या उसका मतलब मै यह समझूँ कि साहित्यके इतिहासमें पुस्तकों और पुस्तक-लेखकोंका कोई स्थान है ही नही ?

पण्डितजी जी नही, मै यह कह रहा था कि साहित्यका इतिहास ग्रन्थों और ग्रंथकारोके उद्भव और विलयकी कहानी नही है। वह काल-स्रोतमे बहे आते हुए जीवन्त समाजकी विकास-कथा है। ग्रन्थकार और ग्रन्थ उस प्राणधाराकी ओर सिर्फ इशारा ही करते है। वे ही मुख्य नहीं है। मुख्य है वह प्राणधारा जो नाना परिस्थितियोसे गुजरती हुई आज हमारे भीतर अपने आपको प्रकाशित कर रही है। साहित्यके इतिहासमे हम अपने आपको ही पढनेका सूत्र पाते है। जो प्राणधारा नाना देशकालकी विभिन्न परिस्थितियोसे गुजरती हुई हमारे भीतरतक पहुँची है वही किसी भी इतिहासका मुख्य लक्ष्य है। मै उन समस्त पुस्तकोका

एक स्वरसे प्रतिवाद करता हूँ जो इतिहासके नामपर चला दी गयी है, पर इस प्राणधाराको प्रकट करनेमे असमर्थ है। व्यक्तियोंका असम्बद्ध विवरण हमें बार-बार याद दिलाता है कि इस वृहत् मानव-इतिहासमे एक ही बात बार-बार घटित हुई है- मृत्यु! जीवनका प्रवाह अव्वल तो उसमे दिखाई ही नही देता और यदि क्वचित् कदाचित दिख गया तो ऐसा लगता है कि बार-बार वह मरुकान्तारमे खो गया है। प्रत्येक बार उसे नये सिरेसे यात्रा करनी पड़ी है। यह मनोवृत्ति ही गलत है। मै इतिहासको जीवनका अनिरुद्ध स्रोत मानता हूँ और दृढताके साथ कहना चाहता हूँ कि यही मानना सही मानना है।

बलराज वाह पण्डितजी, आपने बडी शानदार बात कही है। सुनकर तबीयत साफ हो गयी। इतना और जोड दीजिये कि इतिहास कभी अपने आपको दुहराया नहीं करता। अंग्रेजीकी वह कहावत इस देशमे वेदवाक्यकी तरह मान ली गयी है कि इतिहास अपने आपको दुहराया करता है। प्रतिक्षण परिस्थितियाँ बदल रही है, क्रिया और प्रतिक्रियाका रूप बदलता जा रहा है और प्रतिक्षण जीवन-धारा अपने आपको नवीन रूपमें प्रकाशित कर रही है। इसी नवीनताके अनिरुद्ध प्रवाहका नाम इतिहास है। इस दुनियाकी सबसे अधिक शानदार बात यही है कि हम चल रहे है, स्थिर नही है। किसी जमानेमें शाश्वत और सनातन होना बडा भारी गुण माना जाता था। वस्तुतः यह शाश्वत और सनातन मनुष्यकी एक अतृप्त वाञ्छासे उत्पन्न सुखद कल्पना है। सब मिलाकर इससे यही सिद्ध होता है कि मनुष्य जीवनको कितना प्यार करता है।

पण्डितजी जरा रुको बलराजजी, तुमने बहुत-सी बाते एकमे सान दी है। मै नवीनता और क्षणिकताको अलग अलग वस्तु मानता हूँ। नवीनता जीवनका प्रतीक है, क्षणिकता मृत्युका। मैं नित्य नवीन होनेको मानव-जीवनका मूल सूत्र मानता हूँ।

रत्नाकरजी 'अविचारित रमणीय' इसीको कहते है। अच्छा पण्डित-

जी, सचमुच ही क्या मृत्यु इतिहासका एक बड़ा सत्य नहीं है ? मैं तो इतिहासकी सुदीर्घ परम्परापर एक दृष्टि डालता हूँ तो शुरूसे आखीरतक उसमें मृत्युकी काली छाया दिखाई देती है। भारतवर्ष बहुत पुराना देश है। इतना पुराना कि ऐतिहासिकोंके अटकल बार-बार धक्के खाकर पीछेकी ओर ही भागते रहते हैं। और आज यह कह सकना बड़ा मुश्किल है कि उसके प्रागैतिहासिक कालकी मर्यादा कहाँ रखी जाय ? बड़ी-बड़ी सभ्यताएँ उसकी आसमुद्र-विस्तीर्ण भूमिपर उद्भूत और विलीन हो चुकी हैं, बड़े-बड़े धर्म और दर्शन प्रचलित और विस्मृत हो चुके हैं। बड़े-बड़े विजेता और लुटेरे इसको समान भावसे विध्वस्त कर चुके हैं। और सर्वत्र एक ही बात अत्यन्त स्पष्ट होकर प्रकट हुई है मृत्यु ! मोहनजोदड़ोकी समृद्ध नागरिक सभ्यता इस प्रकार मरी जान पड़ती है जैसे उसके हृदयकी गति एकाएक बन्द हो गयी हो। रोग नहीं, शोक नहीं और हठात् मृत्यु ! महान् मौर्य सम्राटोंके स्थापित स्मृतिचिह्नोंको जैसे लकवा मार गया हो, ज्योंके त्यों खड़े हैं, पर जीवनी-शक्तिसे हीन, हिलने-डुलनेमें असमर्थ ! मैं जब महरौलीके लौहस्तम्भपर खुदी हुई चन्द्रगुप्तकी कीर्ति-कथाको पढ़ता हूँ तो आश्चर्यसे देखता ही रह जाता हूँ। कहाँ है वह विशाल भुजा जिसपर शत्रुओंके खड्गसे कीर्ति-कथा लिखी गयी थी, जो बंगसे लेकर वाह्लीक तक आतङ्कित किये हुए था और 'आज भी' जिसके पराक्रमकी सुगन्धित हवा दक्षिणी समुद्रको सुवासित कर रही है ! 'आज भी'में कूटकालकी कुटिल हँसी मूर्तिमान हो गयी है अहा ! 'यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः' !! और फिर भी तुम कहते हो मृत्यु इतिहासका सत्य नहीं है। मिस्रके ऊँचे-ऊँचे पिरामिडोंकी बात सोचता हूँ तो हैरान हो रहता हूँ। किसी युगमें वह मानव-वीर्यका अप्रतिद्वन्द्वी प्रदर्शन था, पर आज अगर अमेरिकन सोना साल-दो सालके लिए भी वहाँ जाना बन्द हो जाय तो विश्वास मानो कि रेगिस्तानी आँधी उसके ऊँचेसे-ऊँचे शिखरको हमेशाके लिए बालूसे ढँक दे और फिर भी तुम कहते हो कि मृत्यु इतिहासका सत्य है ही नहीं। तुम उसे काला धब्बा कह लो पर है वह सत्य

कमलेशजी

**"अहन्यहनि भूतानि, गच्छन्ति यम-मन्दिरम् ।**
**शेषाः जीवितुमिच्छन्ति, किमाश्चर्यमतः परम् ॥"**

[ प्रति-दिन जीवगण यमलोकको जा रहे हैं, फिर भी जो बच रहते हैं, वे जीवित रहना चाहते हैं। इससे बढ़कर आश्चर्य क्या हो सकता है ! ]

रत्नाकरजी सचमुच ही 'किमाश्चर्यमतः परम् !'

कमलेशजी केवल हृदयकी गति विरुद्ध हो जाना या लकवा मार जाना ही इतिहासका सत्य नहीं है। कमसे कम साहित्यके इतिहासमे तो गला घोंट देना एक विशेष प्रकारकी कला है। यह आधुनिक युगकी देन है। हमारे देखते-देखते कितने नवजात साहित्यिक वादोंका गला घोंट दिया गया है। साहित्यकी वह रसवती प्राण-धारा जिसने विहारीको विहारी और पद्माकरको पद्माकर बनाया था, इस बुरी तरह मार डाली गयी है कि आश्चर्य होता है।

बलराज गुस्ताखी माफ हो शर्माजी, उसने आत्मघात कर लिया है। हाँ, छायावादका गला घोंट देनेके लिए बुजुर्गोंने अलबत्ता कम कोशिश नहीं की है, पर कम्बख्त फिर भी बचा हुआ है।

मोहनलाल नहीं बलराजजी, ताजी खबर यह है कि उसने भी अपने अनुचर रहस्यवादके साथ आत्मघात कर लिया है। पोस्टमार्टमके विषयमे अभी डाक्टरोंमें मतभेद है, पर मरनेके पहले अपने कुटुम्बियोंके नाम उसने एक चिट्ठी टेबिलपर रख छोड़ी थी। उस चिट्ठीके अनुसार आत्मघातका कारण यह बताया जाता है कि किसी नवजात साहित्यिक वाद शिशुके साथ जो कपड़े पहननेके पहले ही नगा ही दौड़ने लगा है दौड़नेमे पूरा न पानेके कारण दोनों मित्रोंने लज्जावश ऐसा कर लिया है।

कमलेशजी शिव ! शिव !!

पण्डितजी (रत्नाकरजीसे) आपने जो कुछ कहा है उसे मै समझता हूँ पर मैंने कब कहा है कि मृत्यु इतिहासका सत्य नही है ? मैं कहता हूँ कि मृत्यु जीवनका उत्स है। वह प्रधान नही है। प्रधान है अशेष जीवन,

धारा। सचमुच ही एक वार महाभारतवाले उस श्लोककी गहराईमें जाया जाय तो मेरी बात स्पष्ट हो जायगी। प्रतिदिन लोग मर रहे हैं, कौन नहीं जानता कि मृत्यु उसके सिरपर मँडरा रही है फिर भी सब जीना चाहते हैं। महाभारतकार इसे 'आश्चर्य' कहते हैं, मैं इसे 'रहस्य' कहना पसंद करूँगा। पुश्त-दरपुश्तसे मृत्युकी ध्रुवताको जानकर भी मनुष्य क्या अभीतक यह नहीं सीख पाया कि जीवन व्यर्थ है! मनुष्यको इस बातकी याद दिलानेवाले शक्तिशाली महात्मा अनेक हो गये हैं, शास्त्र भी बहुतेरे लिखे गये हैं, आन्दोलन भी कम नहीं चलाये गये हैं, फिर भी मनुष्य समझ नहीं पाया! मेरी दृष्टिमें यह समझ न सकना अपने आपमें एक जबर्दस्त प्रमाण है कि इन उपदेशकों, शास्त्रों और आन्दोलनोंकी प्रथा गलत है कि मृत्यु ही सत्य है। मुझे यह विश्वास करनेमें शर्म मालूम होती है कि हम लोगोंकी यह दुनिया अनन्त कोटि मूर्खोंकी वास-भूमि है। मृत्यु अगर जीवनका सत्य होता तो आजसे हजारों वर्ष पहलेसे मनुष्यने जीवनेच्छाको नमस्कार कर दिया होता। आप लोग 'व्यक्तिको' अपने मनमें इतना ऊँचा स्थान दिये हुए हैं कि 'समूहकी' बात ही भूल जाते हैं। व्यक्तिका उद्भव-विलय बराबर होता रहता है पर कभी आपने यह भी सुना है कि समूचा समाजका समाज मर गया हो? कभी भी क्या ऐसा समय बीता है कि जब पृथ्वीपर मानव-समूह निश्चिह्न हो गया हो? वस्तुतः समाज बराबर था और बराबर है। समाजके रूपमें जीवित रहनेको ही मनुष्य अपने वृहत् मानस पटपर अङ्कित किये हुए है। एक व्यक्ति व्यक्ति-रूपसे नष्ट हो सकता है, पर पुत्र-पौत्र परम्परासे वह निरन्तर जीता रहेगा। इसी जीवनेच्छाने सन्तान स्नेहको मानव हृदयमें प्रतिष्ठित किया है। ज्ञानी जब उसे माया कहता है तो बड़ी भारी गलती करता है। वह इसे ठीक नहीं समझ पाता। वस्तुतः व्यक्तिका आपसी सम्बन्ध उसके समाज रूपमें जीवित रहनेका ही द्योतक है।

कमलेशजी पण्डितजीको व्यक्तिवादियोंसे बड़ी चिढ है। समय-असमय, मौके-बेमौके वे हमें बराबर याद दिला देते हैं कि हम व्यक्तिवादी हैं इसलिए निरे ठूँठ हैं और चूँकि वे समूहवादी हैं इसलिए वस्तुकी

वास्तविक मर्यादाके सच्चे जानकार है। गुस्ताखी माफ हो तो व्यक्तिवादी एक शाश्वत-सनातन अमर आत्मामे विश्वास करते हैं और मृत्युको उससे अधिक महत्त्व नही देते, जितना एक व्यक्ति पुराना कपडा छोड़नेको देता है। व्यक्तिवादी होनेसे कोई मृत्युको प्रधान कैसे मान लेता है, यह बात समझमे नहीं आती। और जिस अर्थमे व्यक्तिकी मृत्यु होती है उस अर्थमे समाजकी भी मृत्यु होती है। पण्डितजी पूछते हैं कि क्या कभी आपने यह भी सुना है कि एक समाज पूराका पूरा निश्चिह्न हो गया हो? हॉ, मैने तो सुना है। ग्रीक समाज आज मिट गया है। सीरिया और वैविलोनियाकी सभ्यताके उन्नायक आज निश्चिह्न हैं और स्वय भारतवर्षका इतिहास साक्षी है कि विशेष विशेष सभ्यता और सस्कृतिके पोषक-समूह यहॉसे उठ गये है। जब आप कहते है कि व्यक्तिके मर जानेपर भी समाज जीता रहता है तो मुझे उस जुलाहेकी कहानी याद आती है जिसने अपने हुक्केका नारियल सात वार वदला था और लकडी भी सात वार और फिर भी उसका दावा था कि हुक्का वही है।

वल्लराज शर्माजी, आपकी बात मैं समझ नही सकता हूँ। मुझे शास्त्र वाक्योकी व्याख्या मत समझाइये। मै सीधी बातको सीधी भाषामे समझना चाहता हूँ। क्या समस्त आत्मा-वादियोका यह मत नहीं है कि भव-जाल विकट है, मायाचक्र अनन्त है, ससार दुःखका आगार है, विघ्न-वाहिनी पद-पदपर वाधा देनेको कटिवद्ध है, गृहस्थ ला वार है? यह क्या घोर निराशावाद नहीं है? क्या मनुष्य-जीवन इस प्रकारके विचार-वालोकी दृष्टिमे दुःख-शोकका प्रचण्ड जाल नहीं है?

रत्नाकरजी शाबाश वेटा, तुमने वात वहुत पक्की और पतेकी कही है। हॉ, सचमुच ही भव-जाल ऐसा ही है। पर उसे निराशावाद नहीं कहते। तुम शायद आशावादी हो। मैं तुमको आशावादका ऐतिहासिक विकास वता दूॅ। याद रखो कि आशावाद जैसी वात वहुत हालका आविष्कार है। वहुत हालका। आजसे दो-सौ वर्ष पूर्व यूरोपके विचारशील पुरुषोके सामने दुनिया वदलती हुई प्रकट हुई थी। पश्चिमी धार्मिक

जनताके लिए गैलीलियो, कोपरनिकस और न्यूटनकी बातें जितनी ही आश्चर्य-जनक थीं, उतनी ही झकझोर देनेवाली। ये विचार कि यह पृथ्वी समस्त विश्व-ब्रह्माण्डके केन्द्रमें नहीं है, और मनुष्य भगवान्‌की सबसे श्रेष्ठ सृष्टि नहीं है, बाइबिलकी महिमापर प्रचण्ड आघात करते थे। इन विचारकोंके विचारोंको रोकनेकी बहुत चेष्टा की गयी पर सफलता नहीं मिली। भापके एञ्जिन और छापेकी मशीन नया सन्देश लेकर आयी। विचारशील लोगोंने स्पष्ट देखा कि दुनिया बदल रही है। मशीनें मनुष्यको गुलामीसे मुक्त कर देंगी, सबको सुख-समृद्धि समान भावसे मिलेगी। इस आशावादने अठारहवीं शताब्दीके यूरोपियन लेखकोंको रामराज्यकी कल्पनाके लिए उत्तेजित किया। अठारहवीं शताब्दीका अन्तिम हिस्सा आशावादके जयगानका युग है। कवि और नाटककार मनुष्यकी महिमाका गान गानेमें अघाते नहीं दिखते। प्रसिद्ध फ्रासीसी लेखक कोण्डरसेट इस आशावादी साहित्यका ऐसा विधाता है जिसकी कहानी एक ही साथ करुणा-पूर्ण और स्फूर्तिदायक है। इस अभागे आशावादीने फ्रासके कई सम्भ्रान्तवंशीय अन्य रईसोंकी भाँति राजाके वधके विरुद्ध मत दिया था। इस अपराधपर प्रजातन्त्री विद्रोहियोंने इसे एक छोटेसे गन्दे कमरेमें बन्द कर दिया। इसी काल-कोठरीमें उसने मानव-प्रगतिके भविष्यके सम्बन्धमें एक पुस्तक लिखी। पुस्तक समाप्त होते ही वह अपनी काल-कोठरीसे निकल भागा और दूरके एक गाँवकी सरायमें शरण ली। उसके हाथमें सदा जहरकी पुड़िया रहती थी। वह जानता था कि एक बार विद्रोहियोंकी सनकका शिकार होते ही उसे कुत्तेकी मौत मरना होगा। अपनी आँखोंके सामने उसने अपने सगे-सम्बन्धियोंके चिथड़े उड़ते देखे थे। ऐसी मानसिक अवस्थामें उसने मनुष्यपर जो ग्रन्थ लिखा उसे देखने-पर आश्चर्यमें पड़ जाना पड़ता है। मनुष्यकी सद्‌बुद्धिपर, उसके विवेकपर, उसकी न्यायशीलतापर, उसकी महिमापर उसका अटूट विश्वास था। एक दिन सरायमें अपनेको विद्रोहियोंसे घिरा देखकर इस अपराजेय आशावादीने जहर खाकर प्राण दे दिये। मैं ठीक कह रहा हूँ, बलराज?

बलराज जी हॉं, आप ठीक कह रहे हैं। पर कोण्डरसेटको शायद आप इसलिए स्मरण कर रहे हैं कि इस मतकी मदद हो। पर सचमुच ही मशीनोंने अचरज ढाना शुरू किया। उन्नीसवीं शताब्दीके यूरोपियन देशोंने इन मशीनोंके बलपर संसारको रौंदना शुरू किया। दुनियॉकी समृद्धि यूरोपमें आने लगी। बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए। इन साम्राज्योंका उद्देश्य प्राचीनतर साम्राज्योंकी भॉंति विषय-लालसाकी पूर्ति नहीं था। उनका उद्देश्य व्यवसायकी सुविधा प्राप्त करना था। यूरोपमें व्यवसायने एकाएक नया रूप धारण किया। बड़े-बड़े शहर बसने लगे, फैक्टरियॉं खड़ी हुईं, सामान्त और जमींदारी प्रथापर उसने जबर्दस्त आघात किया। व्यावसायिक क्रान्ति हुई। व्यवसायके लिए नयी-नयी वस्तुओंका आविष्कार होने लगा। पूँजीपतियोंने विज्ञानके अध्ययनको प्रोत्साहन दिया। नयी यूनिवर्सिटियॉं और कालेज खुलते गये। मशीनें बढ़ती गयीं। उनकी पूर्तिके लिए पदार्थ-विज्ञान और अन्यान्य जड़-विज्ञान उन्नति करते गये। मशीनोंके इस बढ़ते हुए प्रभावने मानव-मस्तिष्कको अभिभूत कर लिया। मनुष्यने विजय-गौरवसे आत्म-निरीक्षण करके कहा मैं ही सब कुछ हूँ। मनुष्य प्रकृतिपर विजय पा सकता है, मनुष्य दुनियासे अन्धविश्वास और घृणाके भाव दूर कर सकता है। मनुष्य आकाश और पातलमें अपनी जयध्वजा उड़ा सकता है। आशा और उल्लाससे, प्रसादजीकी भॉंति, उस युगके मनुष्यने भी कहा

> विधाताकी कल्याणी सृष्टि
> सफल हो इस भूतलपर पूर्ण
> पटें सागर, बिखरें ग्रहपुञ्ज
> और ज्वालामुखियॉं हों चूर्ण।
> उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प
> कुचलती रहे खड़ी सानन्द,
> आजसे मानवताकी कीर्ति
> अनिल, भू, जलमें रहे न बन्द।

जलधिके फूटें कितने उत्स।
द्वीप-कच्छप डूबें, उतरायँ,
किन्तु वह खड़ी रहे दृढ़-मूर्ति
अभ्युदयका कर रही उपाय।
शक्तिके विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

रत्नाकरजी हाँ बलराज, तुम मेरी ही बात कह रहे हो। तुम्हारे इस वक्तव्यका मैं समर्थन ही करता हूँ। सुनते जाओ। यन्त्रोंकी सफलताने मनुष्यके मनमें नास्तिकताका भाव ला दिया। उन्नीसवीं शताब्दी सन्देह-वादका युग है। मनुष्यने ईश्वरपर सन्देह किया है, धर्मपर सन्देह किया, शास्त्रपर सन्देह किया और फिर भी वह आशावादका युग है, क्योंकि उसने अपने ऊपर सन्देह नहीं किया। उन्नीसवीं शताब्दीके मध्य-भागमें सुप्रसिद्ध दार्शनिक आगष्ट कोम्त ( Augast Comte )ने एक नये सिद्धान्तका प्रचार शुरू किया। पश्चिममें इसे 'पाजिटिविज्म' (Positivism) कहते हैं। इस पण्डितके मतसे मानवीय ज्ञान अबतक तीन सीढ़ियोंतक चढ़ चुका है। ( १ ) धार्मिकता, ( २ ) दार्शनिकता और ( ३ ) वैज्ञानिकता। पहिली अवस्थामें आदमी नाना देवी-देवताओंमें और अन्तमें ईश्वरमें विश्वास करता था। दूसरीमें उन देवी-देवताओं और तटस्थ ईश्वरको छोड़कर उसने एक सर्वव्यापी चेतन सत्ताकी कल्पना की। ये दोनों अवस्थाएँ अब पार हो चुकी हैं। अब मनुष्य अपने सुख-दुःखके लिए देवी-देवताओं या ब्रह्म-सत्ताका मुखापेक्षी नहीं है। अब उसने दुनियाके रहस्यको बहुत कुछ समझ लिया है और भविष्यमें अधिकाधिक समझने योग्य होता जायगा। इसीलिए अब देवी-देवताओंकी या भगवान्की या सर्व-व्यापक चेतन-सत्ताकी उसे जरूरत नहीं है। परन्तु चूँकि मनुष्यमेंका धार्मिक भाव बहुत प्रबल है, वह किसी-न-किसी वस्तुपर विश्वास किये

बिना रह नहीं सकता इसलिए इस पण्डितने ईश्वरके स्थानपर मानवताकी प्रतिष्ठाकी सिफारिश की। मानवताकी सेवा करना ही वस्तुतः पूजा और उपासना है। मनुष्यके सिवा और कोई ईश्वर नहीं है। इस सिद्धान्तका यूरोपमें उन दिनों खूब स्वागत हुआ। वस्तुतः तबसे अबतक किसी-न-किसी रूपमें मानवता साहित्य और दर्शनमें ईश्वरका स्थान पाती ही आ रही है। मनुष्यकी महिमामें विश्वास करना ही इस सिद्धान्तका मूल मंत्र है। क्यों बलराज!

बलराज जी हाँ, सही बात है।

मोहनलाल परन्तु यह नियतिका मजाक ही कहा जाना चाहिये कि उक्त दार्शनिक जब मनुष्यकी प्रगतिकी वकालत कर रहा था और उसकी घोषणा कर रहा था उसी समय भारतवर्षमें सन् सत्तावनकी सद्-वृत्तियोंपर, और उसकी न्याय-बुद्धिपर ऐसे विश्वासकी भयङ्कर प्रति-हिंसाग्नि धधक रही थी, राज-मार्ग रक्तसे पिच्छिल हो रहे थे और शस्य-श्यामल मैदान धुएँ और राखसे ढँक गये थे। मानों अदृश्य चेतन-सत्ताको इस मजाकमें कुछ मजा आ रहा था। उसने इसी साल कोम्तको दुनियाँकी सतहपरसे पोंछ दिया। और दूसरे ही साल सुप्रसिद्ध डार्विनने अपने नये आविष्कारोंसे दुनियाँको चकित और क्षुब्ध कर दिया। इस बार देखा गया कि मनुष्य ईश्वर नहीं, पशु है। वह पशुओंमेंसे ही उपजा है। निरन्तर संघर्षमें विजयी होनेके कारण ही वह बचा हुआ है। इस दुनियाँ-में वही बचता है जो बचनेमें सबसे योग्य होता है, जो अपने इर्द-गिर्दके शत्रुओंको छल-बलसे और बाहुबलसे जीत सकता है। इस आविष्कारने दुनियाँके चिन्ता-शील लोगोंको एक बार फिर झकझोर डाला। इसने दुनियाको नयी दृष्टि दी। कुछ भी ज्योंका त्यों जैसा आज दीख रहा है नहीं आया। सभी वस्तु, सभी विचार, सभी समस्याएँ काल-प्रवाहमें बहती हुई, परिस्थितियोंसे टकराती हुई, निरन्तर परिवर्तित होती हुई आ रही है। डार्विनका अविष्कार प्राणि-शास्त्रके क्षेत्रमें था, परन्तु उसने मनुष्य-की सारी मनीषाको नये रास्तेपर मोड़ दिया। प्रो० हिरेनूशाने ठीक ही कहा है कि उन्नीसवीं शताब्दीकी चिन्ताकी सबसे बड़ी कुञ्जी डार्विनका विकास-

वाद है। छोटेसे-छोटे धूलिकणसे लेकर विशाल सौर-जगत् और और भी विराट् तारागुच्छ इसकी लपेटसे नही बच सके। यहाँतक कि इस विचारने ईश्वरको और आत्माको भी प्रयोगशालामे बैठा दिया। जिस विचारने इस प्रकार मनुष्यकी चिन्तामे क्रान्ति ला दी उसने साहित्यको कितना प्रभावित किया था यह अनुमानका ही विषय है।

बलराज जी, उस युगमे विकासवादका बड़ा विरोध हुआ था, पर आज कोई शास्त्र ऐसा नही है जो विकासवादको किसी-न-किसी रूपमे स्वीकार न करता हो। इतिहासको समझनेमे इस शास्त्रने बहुत सहायता दी और इतिहासके समझनेका अर्थ होता है जीवन-प्रवाहको समझना। इस प्रकार मनुष्य अपने जीवन-प्रवाहके विषयमे एक अविसंवादी तथ्यका पता पाकर बहुत कुछ आश्वस्त तो हुआ पर उसके आशावादने नया रूप ग्रहण किया। मै उसी नये रूपका कायल हूँ।

पण्डितजी लेकिन बलराज, इतना ही सब कुछ नहीं है। एक पार्श्वसे देखना ही सही देखना नही है। ईसाकी उन्नीसवीं शताब्दीका प्रथमार्द्ध जहाँ मनुष्यको नयी आशा और नयी उमङ्गोसे भर रहा था वहाँ वह संवेदनाशील लोगोको निराशावादकी ओर भी ले जा रहा था। बड़े-बड़े शहरोके बसनेसे और बड़ी-बड़ी फैक्टरियोके स्थापित होनेसे जहाँ यूरोपकी बाह्य सम्पत्ति बढती जा रही थी वहाँ उसका आन्तरिक जीवन दुःखपूर्ण होता जा रहा था। व्यावसायिक क्रान्तिने राजकीय और आर्थिक शक्तिको सामन्तवर्गके हाथसे खीचकर व्यवसायी समुदायके हाथमे कर दिया था; राजनीतिमे ही नहीं, साधारण आचार-विचार और विश्वासमे प्रजातन्त्रवादका जोर था। सामन्तशाहीके विरुद्ध जो तीव्र आन्दोलन हुआ उसने साधारण व्यक्तिको अपनी स्वाधीनतामे आस्थावान् बनाया, शहरके भीड़-भम्भड़ने सदाचारके नियमोको शिथिल कर दिया, शिक्षा-प्रचार और वैज्ञानिक शोधोंने एक ही साथ वशानुगत प्रतिष्ठा और धार्मिक शासनके विरुद्ध बगावतका भाव ला दिया। इस प्रकार वैयक्तिक स्वाधीनताका जन्म हुआ। आडम स्मिथने सुझाया कि किसी राष्ट्रकी सम्पत्ति

उसके व्यक्तियोंकी योग्यता और स्वाधीनतापर ही निर्भर होती है। यह ध्यान देनेकी बात है कि उन दिनों जब वैयक्तिक स्वाधीनता और समानताकी बात कही जाती थी तब आजकी भाँति सब छोटे-बड़ेकी बात नहीं समझी जाती थी बल्कि कुलीन और सामन्तवर्गके शासनसे मुक्त होनेकी और मध्यवित्तके लोगोंका उनके समान समझे जानेकी बात समझी जाती थी। व्यवसायकी प्रधानताने कुलीन पुरुषका यह दावा कि वह भगवान्‌की ओरसे कुछ विशेष गुण लेकर उत्पन्न हुआ है, निर्मूल सिद्ध कर दिया। व्यवसायमें, जनताके व्याख्यानमञ्चपर और अखबारोंमें चमकनेके लिए कुलीनताकी कोई जरूरत नहीं थी। इसका नतीजा यह हुआ कि मध्यवित्तके लोगोंमें एक प्रकारसे व्यक्तिगत अहङ्कारका भाव आता गया। यहाँतक कि यह तर्क भी उपस्थित किया जाने लगा कि यदि वैयक्तिक स्वाधीनता व्यवसाय-वाणिज्यमें अच्छी है तो वह सदाचार और राजनीतिके क्षेत्रमें क्यों नहीं अच्छी होगी! गाडविनने निःसन्दिग्ध होकर इस प्रकार प्रचार करना शुरू किया कि मनुष्य स्वभावतः सदाचारी है। अगर सभी कानून और नियम रद्द कर दिये जायँ, तो मनुष्यकी बुद्धिमें और चरित्रमें निस्सन्देह अभूतपूर्व उन्नति होगी। सुप्रसिद्ध कवि शेलीने इन्हीं विचारोंको छन्दोबद्ध किया और केवल दार्शनिक गाडविनकी भाँति विचारोंकी ही दुनियामें नहीं भटकता रहा बल्कि उसने इसे जीवनमें कार्यान्वित भी किया। जब वृद्ध गाडविन अपनी जवानीके इन विचारोंको तिलाञ्जलि दे चुका था, तब भी उसके इस विचार-परिवर्तनकी परवा किये बिना उक्त कवि उसकी कन्याकी सहायतासे इस नवीन वैयक्तिक स्वाधीनताका प्रचार करता रहा। कवि जब संसारकी मङ्गल-विधायिनी सत्ताको स्वीकार न करता हो, और फिर किसी सामाजिक नियन्त्रणकी भी परवा न करता हो तो जीवनके प्रत्यक्ष अनुभव उसे निश्चय ही निराशावादी बना देंगे। क्योंकि साधारण दुनिया उतनी अग्रसर नहीं हुई होती जितना अग्रसर होनेकी आशा कवि उसके निकटसे किये रहता है। शेलीने भी इसीलिए जीवनको एक भार ही समझा। वह अपने विचारोंके साथ संसारको

चलता हुआ न देखकर घोर निराशावादी हो गया। वह बहुत थोड़ी उमरमें मर गया, पर उसके एक प्रशंसकने ठीक ही लिखा है कि वह बहुत दिनतक जिया क्योंकि उसका प्रत्येक क्षण औरोंके वर्षसे भी अधिक था। उस युगके अन्य कवियों बायरन, कीट्स और वर्ड्स्वर्थमें भी निराशा-वादका सुर है। उन दिनोंका यूरोपियन काव्य-साहित्य इस सुरसे भरा पड़ा है। वर्तमानकी विसदृशताओंसे ऊबकर कविगण एक काल्पनिक अनुकूल जगत्के निर्माणमे लगे रहे।

इन दिनोंकी यूरोपियन चिन्ताधारामें नियतिवादका जोर था। निराशावादी सभी कवि जड़ प्रकृतिकी एक नियत स्वाभाविक परिणतिमें विश्वास करते थे। यह प्रकृति किसीकी परवा किये बिना अपने रास्ते चली जा रही है। जो कोई भी इस प्रवाहमें पड़ता है वह बह जाता है, उसको रोकनेकी ताकत मनुष्यमे नहीं है। अपने सुख और दुःखका विधाता स्वय मनुष्य नहीं है बल्कि उसके सुख और दुःख सभी एक नियतिप्रवाहके ऊपर निर्भर करते है। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दीके मध्य-भागमे नाना प्रकारकी स्वाधीन चिन्ताएँ युरोपियन विचारधाराको एक खास दिशामे मोड़ रही थीं। उसीकी परिणतिका नाम 'माडर्निज्म' (Modernism) है। उसमें ईश्वरका स्थान मनुष्यता ले चुकी थी, पर मनुष्यताको ईश्वरकी भाँति सर्वगुण सम्पन्न नहीं माना गया था, उसके दोष-गुण आदि सभी स्वीकार कर लिये गये थे। धर्म नामसे प्रचलित पुराने विश्वासप्रवण मत-वादके स्थानपर तर्क-प्रवण नवीन मतवाद जन्म ले चुका था। विचारशील लोग स्वीकार कर चुके थे कि मनुष्य नियतिके हाथका एक खिलौना है, या फिर यह कि मनुष्य प्रकृतिको अपने कब्जेमे ले आ सकता है।

बलराज लेकिन सब मिलाकर उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें निराशावाद निश्चित रूपसे उतारपर आ गया था। आशावादने वह नया रूप धारण किया जिसे मैं चरम सत्य मानता हूँ। विकासवादकी प्रतिष्ठाने यह साबित कर दिया कि मनुष्य पशुकी अवस्थासे निरन्तर विकसित होता हुआ इस अवस्थातक पहुँचा है। उसका शारीरिक विकास प्रायः समाप्त

हो आया है, पर मानसिक विकास बहुत कम हुआ है। वह निरन्तर पूर्णतर ज्ञानकी ओर बढ़ रहा है। मैं जेम्सके इस मतका बड़ा आदर करता हूँ कि वही सबसे बडा सत्य है जिससे मनुष्यका हित सधे।

कमलेशजी मैंने धैर्यसे तुम्हारी बाते सुनी है, पर जिसे तुम उन्नीसवी शताब्दी या अठारहवीं शताब्दीकी विचारधारा कहते हो, इतनी नयी भी नहीं है और इतनी दूरकी भी नहीं है। घरकी ओर क्यों नहीं देखते ? मैं तुम्हारी तरह यह तो नहीं मानता कि जो मनुष्यका हित है वही सत्य है पर महाभारतमे इसी तरहके विचारका पता लगता है, अवश्य ही वह इससे जरा बृहत्तर भूमिकापर प्रतिष्ठित है। नारदजीने शुकदेवसे कहा था कि

'यद्भूतहितमत्यन्त, एतत् सत्य मत मम'

बलराज (आश्चर्यसे) अच्छा इतनी पुरानी बात है यह ! मैं महाभारत पढ़ूँगा।

कमलेशजी जरूर पढो। मगर अभी तो मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि तुम्हे शास्त्रवाक्योंकी व्याख्या नहीं पढाऊँगा। यद्यपि तुमने अबतक डार्विन और जेम्स वगैरह को जिस रूपमे याद किया है वह शास्त्रवाक्यकी दुहाईसे कुछ कम गर्हित नहीं है और सीधी बातसे सीधी भाषामे मुझे कहनेकी हिदायत तुमने की है उसके साथ इस सारे शास्त्रार्थका कोई सामंजस्य नहीं है। अब यदि तुम सुनना चाहो तो सीधी भाषामे मैं सीधे तौरपर तुम्हारे सारे शास्त्रार्थका निष्कर्ष बता दूँ।

पण्डितजी जरूर बताइये।

कमलेशजी मुझे ऐसा लगा है कि जिस आशावाद और निराशावादके विषयमे आप लोगोमें पक्ष-स्थापनकी अहमहमिका पड गयी थी वे वस्तुतः ऐसे अपूर्ण व्यक्तियो द्वारा उद्भावित हैं जो सामयिक सुख-दुःखोसे अभिभूत हो जाते हैं। उन्हे आप्त तो कहा ही नहीं जा सकता, धीर भी नहीं कहा जा सकता। ऐसे लोगोके द्वारा स्थापित मत अस्थिर और असत्य हैं, वे कालकी कसौटीपर दस-पन्द्रह वर्ष भी नहीं टिक सकते। इसके विरुद्ध उन मतोको देखो जो जीवन-व्यापिनी साधनासे उद्भावित है,

जिनकी सत्यानूभूतिको बार-बार अनुभव किया गया है, पद-पदपर तपस्याकी अग्निमें उसकी सचाईकी जाँच की गयी है। तुम इस प्रकारकी बहसमें उस मतको नहीं खींच सकते। वह मत 'टेबिलटॉक' का विषय नहीं है। वह साधनाका विषय है। हमारा साहित्य उसीको केन्द्र करके गठित हुआ है। उसमें आशावाद और निराशावादके उतार-चढ़ाव नहीं दिखते।

रत्नाकरजी—देखो पण्डितजी, कमलेशजीने जो बात कही है उसकी गहराईमे जाना चाहिये। भारतीय-साहित्य इस मशीनके बनने या उस थ्योरीके आविष्कृत होनेसे प्रभावित नहीं हुआ। वह एक शाश्वत सत्यमे प्रतिष्ठित है। तुम इस बातको अस्वीकार नहीं कर सकते।

पण्डितजी—(कुछ अनमनेसे होकर) हाँ साहब, आपकी बात मानूँ तो कैसे और न मानूँ तो कैसे ? एक दिन कैलाशकी देवदारु द्रुम-वेदिकापर निर्वात-निष्कम्प प्रदीपकी भाँति स्थिर भावसे आसीन महादेवके सामने अपने ही यौवन भारसे दबी हुई वसन्त-पुष्पोकी आभरणधारिणी पार्वती जब पुष्प-स्तवकके भारसे झुकी हुई सञ्चारिणी पल्लविनी लताकी भाँति उपस्थित हुई थी और अपने नील अलकोमे शोभमान कर्णिकार तथा कानोमे विराजमान नव किसलयदलको असावधानीसे विस्रस्त करती हुई उस तपस्वीके पद-प्रान्तमे झुकी थीं तो योगिराज क्षणभरके लिऐ चञ्चल हो उठे थे, उन्होंने बरबस अपने विलोचनोको पार्वतीके मयङ्क-मुखकी ओर व्यापारित किया था। उन्होने क्षणभरके लिए सारे ससारको मधुमय देखा था अशोक कन्धे परसे फूट पड़ा था, बकुल कटकित हो गया था, न इसने सुन्दरियोके आसिञ्जित नूपुर-ध्वनिकी प्रतीक्षा की, न किसीने उसके गण्डूष-सेककी ! किन्तु एक ही क्षणमे योगासनासीन महादेव सभल गये। उन्हें किसी अपदेवताका कुसुम बाण-सन्धान उचित नहीं जान पड़ा। जबतक आकाशमे मरुद्गण क्रोध-शमन करने लिए हाहाकार करते जाते है तबतक कामदेव कपोत कर्बर-भस्ममें परिणत हो गया ! किशोरी पार्वतीका कोमल हृदय अपने सौन्दर्यकी व्यर्थतासे झुँझला उठा, उन्होंने इस व्यर्थताको दूर करनेके लिए कठोर तपस्याकी ठानी। प्रथम दर्शनके प्रेमपर, बाह्यरूपके

आकर्षणपर क्षण-क्षणभरमें वज्रपात कराके समस्त हिमालयके सौन्दर्यको एक तरफ फेंककर कालिदास त्याग और तपस्याका आयोजन इस मस्तीसे करानेमें जुट गये मानो कुछ हुआ ही नहीं, मानों कुमारसम्भवके प्रथम तीन सर्ग माया थे, कविका उनपर कोई मोह नहीं, ममता नहीं, प्रीति नहीं। क्योंकि वे मनुष्यको और उसकी इस दुनियाको ही सब कुछ नहीं मानते थे। कुछ और भी है, इस दृश्यमान सौन्दर्यके उस पार, इस भासमान जगत्के अन्तरालमें कोई एक शाश्वत सत्ता है जो इसे मङ्गलकी ओर ले जानेके लिए कृतनिश्चय है। परन्तु आज वह जमाना नहीं रहा। हम बदल गये हैं, हमारी दुनिया बदल गयी है, हमारे विश्वास हिल गये हैं, हमारी ऐहिकता बढ गयी है "तेहि नो दिवसा गताः।"

मोहनलाल नहीं पण्डितजी, कैसे कहा जाय कि वे दिन बीत गये। आज भी वह मायालोक आपको अभिभूत किये है, आज भी आप उसमे रस ले रहे हैं।

कमलेशजी हम बदल सकते हैं, हमारी दुनिया बदल सकती है, हमारे विश्वास हिल सकते हैं, पर कालिदासका वह मायालोक सत्य है। हमारे बदलने न-बदलनेकी वह परवा नहीं करता।

बलराज सब खतम ? पण्डिजीने तो कमाल किया कहाँ निराशावाद, आशावाद, पाजिटिविज्म, मार्क्सवाद, और अन्तमे सब फक्! कालिदासका मायालोक ? वाह, हमारे बदलने-न-बदलनेसे वह लोक एकदम बदला ही नहीं ? मानो आज नित्य ही कालिदास पैदा हो रहे हैं। मायालोक बदल गया है, पण्डितजी, निश्चित बदल गया है और बदल गया है, एक क्षणमे आपका मूड।

मोहनलाल—हम किसी नतीजेपर नहीं पहुँचे। जहाँ के तहाँ रह गये।

बलराज हाँ, हम रह गये, लेकिन युगसत्य वेगपूर्वक चला है। वह समस्त मोहो और आसक्तियोंको अपने रथ-चक्रसे रौंदता हुआ आगे बढ रहा है।

कमलेशजी साधु, साधु!

# आदिकालके अन्तरप्रान्तीय साहित्यका ऐतिहासिक महत्व

उन्नीसवी शताब्दीमे विदेशी विद्वानोने कठिन परिश्रमके बाद भारतीय इतिहासका सम्पूर्ण चित्र प्रकाशित करनेका प्रयत्न किया। उन्हीं दिनों उनका थोडा-बहुत ध्यान हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओंके साहित्यकी ओर भी गया। उनका प्रधान उद्देश्य था ऐतिहासिक समझी जानेवाली सामग्रीका पता लगाना। इसी दृष्टिसे शुरू-शुरूमे हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओके साहित्यका अध्ययन आरम्भ हुआ। उन दिनोकी शोधप्रिय विद्वत्-सभाओकी ओरसे ऐसे ही ग्रन्थोके प्रकाशनका प्रयत्न किया गया जिनसे कुछ ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होनेकी आशा थी। बादमे कुछ विदेशी पण्डितो-की रुचि भाषा-विकासकी ओर भी हुई और इस दृष्टिसे भी हिन्दीके पुराने ग्रन्थोके अध्ययनका प्रयत्न किया गया। इन दो उद्देश्योके अतिरिक्त एक तीसरा उद्देश्य और भी था जिसे सामने रखकर कई विदेशी पण्डितोंने हिन्दीके कुछ धार्मिक ग्रन्थोका अध्ययन किया। इन दिनो ईसाई धर्मके प्रचारमे कई विदेशी धर्म-याजक बहुत प्रयत्नशील थे। उन्होने हिन्दीमे लिखे धार्मिक ग्रन्थोका अध्ययन उन लोगोके संस्कारो और विश्वासोके अध्ययनके लिए ही शुरू किया था जिनके बीच उन्हे अपने धर्मका प्रचार करना पडता था। कहना बेकार है कि इस प्रकारकी दृष्टि वैज्ञानिक अध्य-यनके लिए बहुत ही सदोष है, फिर भी यह सत्य है कि इस उद्देश्यको सामने रखकर जिन लोगोने अध्ययन आरम्भ किया था उन्होने भी कुछ ऐसे महत्वपूर्ण कार्य किये जो भावी वैज्ञानिक अध्ययनके लिए सहायक सिद्ध हुए। इस युगमे जिस विदेशी जातिसे भारतवर्षका सम्पर्क हुआ वह यद्यपि भारतीय समृद्धिके शोषकके रूपमे ही परिचित है तथापि उस

जातिके चित्तमें विज्ञान-प्रेम अंकुरित हो चुका था और उसकी दृष्टिमें एक प्रकारका बौद्धिक वैराग्य और विवेक प्रतिष्ठित हो चुका था। सौभाग्यवश आरम्भमें भारतवर्षको इस जातिके अनेक उदार और कृती विद्वानोंका सहयोग प्राप्त हुआ और किसी-किसी क्षेत्रमें छोटे उद्देश्योंको सामने रखकर काम करनेपर भी इन पण्डितोंने बड़े परिश्रमसे हमारे साहित्यके अध्ययनका मार्ग प्रशस्त किया। विशुद्ध ज्ञान-साधना ही जिनका उद्देश्य था उन्होंने हिन्दी ग्रन्थोंका अध्ययन ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त करने और भाषा-विकासकी अवस्थाओंकी जानकारी प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही किया। बहुत दिनोंतक देशी विद्वानोंके मनमें भी हिन्दी-साहित्यके पुराने ग्रन्थोंका यदि कोई महत्त्व था तो इन्हीं दो कारणोंसे ही। साहित्यिक दृष्टिसे हिन्दी ग्रन्थोंके अध्ययनका कार्य तो बहुत बादमें शुरू हुआ।

किन्तु ऐसा लगता है कि जिन लोगोंने ऐतिहासिक सामग्री पानेकी लालसासे ही इस साहित्यका अध्ययन आरम्भ किया था उनका उत्साह बहुत देरतक नहीं टिक सका। पृथ्वीराजरासोकी तिथियाँ विवादका विषय सिद्ध हुईं, पद्मावतकी ऐतिहासिक मानी जानेवाली घटनाकी प्रामाणिकता सन्देहास्पद समझी गयी। कई अन्य दरबारी और चारण कवियोंकी रचनाओंकी प्रामाणिकता भी विवादास्पद साबित हुई। उधर तत्तत् बादशाहोंके समसामयिक मुसलिम ग्रन्थकारोंकी रचनाओंमें ऐतिहासिक दृष्टिसे अधिक विश्वसनीय सामग्री प्राप्त होने लगी, ऐतिहासिक पण्डितोंका झुकाव उसी ओर होता गया। हिन्दी ग्रन्थोंके अध्ययनका उत्साह ठण्डा पड़ गया। वस्तुतः हिन्दी भाषा जिन दिनों साहित्यका वाहन बनने लगी थी उन्हीं दिनों भारतीय इतिहासकी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण, और शायद अभूतपूर्व भी, घटना घट गयी। वह है इस्लामका प्रवेश। इस घटनाने इस देशके इतिहासको बहुत प्रभावित किया। हमारे देशके ऐतिहासिक पण्डितका सम्पूर्ण ध्यान यदि इस महत्त्वपूर्ण घटनाकी ओर खिंच जाता है तो यह आश्चर्यकी बात नहीं है, खेदकी भी नहीं है। खेदकी बात है उस दृष्टिकी अतिशय जो शुष्क घटनाओं और तिथियों को ही इतिहास समझती है।

इसीका यह परिणाम हुआ है कि देशकी अन्य महत्त्वपूर्ण परिस्थितियाँ उपेक्षित रह गयी हैं। यदि इतिहासका अर्थ मनुष्य-जीवनके अखण्ड प्रवाहका अध्ययन हो तो हिन्दी साहित्यके आदिकालका इतिहास एकदम उपेक्षणीय नही है। पर दुर्भाग्यवश वह सचमुच ही उपेक्षित रह गया है।

इस प्रसङ्गमे हम साहित्य शब्दका प्रयोग बहुत व्यापक अर्थोंमे कर रहे हैं। सचाई तो यह है कि जिन लोगोने साहित्यिक दृष्टिसे इस कालके ग्रन्थों-का अध्ययन किया है उनके लिए यह विशेष आकर्षक सिद्ध नहीं हुआ है। वस्तुतः यह साहित्य पूर्ण रूपसे रसपरक साहित्य है भी नही। इसका जितना हिस्सा रसात्मक साहित्य कहा जा सकता है वह भी बहुत अधिक प्रेरणादायक और स्फूर्तिजनक नही कहा जा सकता। फिर भी इस साहि-त्यका महत्त्व है। इसकी उपेक्षा करनेका अर्थ है समूची भारतीय परम्पराको विकलाङ्ग होने देना। इस साहित्यका सबसे बड़ा गुण यह है कि उससे हम उस 'मनुष्य'को पहचान सकते हैं जिसके पहचाननेका और कोई साधन उपलब्ध नहीं और दीर्घकालके उपेक्षित और अपरिचित मनुष्यको पहचा-ननेका साधन होना कोई मामूली बात नहीं है। जो साहित्य अपने युगके मनुष्यको, उसकी सभी सबलताओं और दुर्बलताओके साथ, उसकी समस्त आशा-आकांक्षाओंके साथ, हमारे सामने प्रत्यक्ष लाकर खडा कर देता है वह निस्सन्देह महान साहित्य है। मनुष्य ही मुख्य है, बाकी सब बाते गौण हैं। अलङ्कार, छन्द, रसका अध्ययन इस मनुष्यको समझनेका ही साधन है, ये अपने आपमे कोई स्वतन्त्र चरम मान नहीं हैं। मनुष्यको अर्थात् पशु-सुलभ वासनाओसे ऊपर उठनेके लिए प्रयत्नशील उस प्राणीको जो त्याग, प्रेम, सयम और श्रद्धाको छीनाझपटी, मारामारी, लोलुपता और घृणाद्वेषसे बडा मानता है उसके लक्ष्यकी ओर ले जाना ही साहित्यका मुख्य उद्देश्य है। हम जिस साहित्यकी चर्चा करने जा रहे है उसमे इस मनुष्यकी विजय-पराजयको, आगे बढनेके लिए किये गये संघर्षों और पीछे हटने या भाग जानेके प्रयत्नोंको समझनेके अनेक इङ्गित है। यह साहित्य अपने युगको समस्त दोष-गुणोके साथ प्रत्यक्ष कर देता है। नाथो और

निरञ्जनियोकी अनुश्रुतियाँ, जैन और बौद्ध साधकोके दोहे और पद, निर्गुणियोंकी रचनाएँ और साम्प्रदायिक परम्पराएँ और अपभ्रंश कवियोंकी इतस्ततोविक्षिप्त लौकिक अनुभवकी कविताएँ हमे एक 'अपूर्व जगत्'का दर्शन कराती है। इस दुनियाको प्रत्यक्ष करा सकनेकी शक्ति एक मात्र इसी साहित्यमे है। कभी-कभी इस साहित्यके इशारोको समझनेके लिए पूर्ववर्ती, ईषत् पार्श्ववर्ती और परवर्ती भापाओके साहित्यसे सहायता मिलती है। यह भूल नही जाना चाहिये कि इस देशकी अनेक आर्येतर जातियाँ धीरे-धीरे आर्य भाषा-भाषी हुई है कुछ तो अब भी अपनी भाषाएँ बचाये हुए है आर्यभाषी होनेके बाद इन्हे अपने विश्वासो और अनुभवोकी बातें देशी भाषाओके माध्यमसे कहनेका अवसर मिला है। यही कारण है कि देशी भाषाओके लिखित साहित्यमें और उनके लिए लोककथाओ, कहावतो और किंवदन्तियोमें ऐसे सङ्केत मिल जाते हैं जो इन आर्येतर जातियोके प्राचीन विश्वासोको और अपने आपको बचा रखनेके लिए किये गये सङ्घर्षोंको स्पष्ट करते है। इनमे सास्कृतिक सङ्घर्ष और मिलनकी कहानियाँ प्रच्छन्न रूपसे बहती आ रही है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। देशी भाषाओमे होनेके कारण ही सभी बाते नयी नही हो जाती। हो सकता है कि इन देशी भाषाओंकी कथाओ और किंवदन्तियोमें ऐसी प्राचीन बातोकी ओर इशारा हो जिनका परिचय तत्कालीन संस्कृत साहित्यसे हमे एकदम न मिलता हो। भारतीय साहित्यमें एक विचित्र विरोधाभास है। रचनाकी नवीनता वक्तव्यकी नवीनताका प्रमाण नहीं है। अनेक पुराणोकी रचना परवर्ती कालमे हुई है, पर उनमे जो परम्परा आभासित है, वह बहुत पुरानी हो सकती है। यही बात देशी भाषाओंके लिखित और अलिखित साहित्यके बारेमे भी सच है। जिन आर्येतर भाषा-भाषी जातियोको बहुत परवर्ती कालमें अपने विश्वासो और अनुश्रुतियोंको आर्यभाषाके माध्यमसे कहनेका मौका मिला है वे स्वय नयी नहीं हैं। उनकी अनुभूतियोका आर्यभाषावाला रूप नया हो सकता है, पर अनुश्रुतियाँ बहुत पुरानी हो सकती हैं। निस्सन्देह उनपर परवर्ती

कालके चिह्न भी इधर-उधर चिपके रह गये होगे, पर फिर भी उनके प्राचीनतर रूपका सन्धान और किसी भी प्रकारसे पाना दुष्कर है। इस दृष्टिसे देशी भाषाओंका महत्त्व बहुत अधिक है। हमने अन्यत्र यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि यद्यपि हमारे पास अध्ययनकी बहुत कम सामग्री है तो भी देशी भाषाओमे प्राचीन संस्कृतिके अध्ययनके सूत्र खोजे जा सकते है।

यहाँ मै इस ओर नही जाऊँगा। फिर भी इतनी-सी बातकी ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि हमारी भाषाका पुराना साहित्य प्रान्तीय सीमाओमे बँधा नही है। आपको अगर हिन्दी साहित्यका अध्ययन करना है तो उसके पडोसी साहित्यों बँगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, नेपाली आदिके पुराने साहित्य लिखित और अलिखित को जाने बिना घाटेमे रहेगे। यही बात बँगला, उडिया, मराठी आदिके पुराने साहित्योके बारेमे भी ठीक है। हमारे देशका सास्कृतिक इतिहास इस मजबूतीके साथ अदृश्य काल-विधाताके हाथो सी दिया गया है कि उसे प्रान्तीय सीमाओमें बाँधकर सोचा ही नही जा सकता। उसका एक टाँका यदि काशीमे मिल गया तो दूसरा बङ्गालमे, तीसरा उडीसामे और चौथा महाराष्ट्रमे मिलेगा। और यदि पाँचवाँ मलाबार या सीलोनमे मिल जाय तो आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं है। जैन पुरातन प्रबन्धमे नीलपट नामक 'दर्शनियो'की कहानी है। बताया गया है कि स्त्री-पुरुषके नग्न जोडे एक नील वस्त्रमे आवृत रहते थे और भोगपरक धर्मका उपदेश देते थे। राजा भोजने इनका उच्छेद करा दिया था। बहुत दिनोतक इन नीलपटोके विषयमे कुछ जाना नही जा सका। जैन प्रबन्धके लेखकने इनका जो घृणित रूप खीचा है उससे इनके वास्तविक रूपका विचार नहीं किया जा सकता। यदि हिन्दू आचार्योंके विरोधी विचारोके आधारपर ही बौद्ध मतका रूप देखनेका प्रयत्न किया जाता तो वह चित्र कितना विकृत होता! विरोधियोके मतसे किसी मतका वास्तविक रूप नही समझा जा सकता। हिन्दीमे चर्पटीनाथका यह पद पाया जाता है

एक श्वेत जटा एक पीतपटा
एक तिलक जनेऊ लम्ब जटा।
एक नीलपटा मत अट्टपटा
भ्रम जाल जटा भव हट्ट अटा

यह पद मैंने तरन-तारनसे प्रकाशित प्राण सङ्कली नामक ग्रन्थसे उद्धृत किया है जो सिक्खोंके एक सम्प्रदायमें गुरु नानककी वाणीके रूपमें समादृत है। इस पदमें नीलपटोंको संसारके बाजारमें भरमनेवाले भ्रमजालसे जकड़े हुए, अटपटे मतको माननेवाले कहकर स्मरण किया गया है। इस प्रकारके एक नील वस्त्रधारी सम्प्रदायका पता श्री राहुल सांकृत्यायनने सिंहलके निकाय संग्रहसे उद्धृत किया है और उस विवरणसे पता चलता है कि ये नीलपट वज्रयानियोंसे या तो अभिन्न हैं, या मिलते-जुलते हैं। सिंहलका विवरण न मिलता तो इसके बारेमें हम अन्धकारमें ही रहते। श्री क्षितिमोहन सेनने गोरखनाथ और मायाके संवादके रूपमें प्रचलित एक पद पूर्वी बङ्गालमें सुना था, उससे मिलता-जुलता पद राजपूतानेमें दादूके नामसे प्रचलित देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ था, पर वह पद गोरखबानीमें गोरखनाथके नामपर प्राप्त है और बिहारमें जोगीडोंके रूपमें गाया जाता है। उदाहरण और भी बढाये जा सकते हैं।

मुसलमानोंके आनेके पहले इस देशमें कई ब्राह्मण-विरोधी सम्प्रदाय थे। बौद्ध और जैन तो प्रसिद्ध ही हैं। कापालिकों, लाकुल पाशुपतों, वामाचारियों आदिका बड़ा जोर था। नाथों और निरञ्जनियोंकी अत्यधिक प्रबलता थी। बादके साहित्यमें इन मतोंका बहुत थोडा उल्लेख मिलता है। दक्षिणसे भक्तिकी जो प्रचण्ड आँधी आयी उसमें ये सब मत बह गये ! पर वे क्या एकदम मिट गये ? लोकचित्तपरसे क्या वे एकदम झड़ गये ? हिन्दी, बँगला, उडिया, मराठी आदि साहित्योंके आरम्भिक कालके अध्ययनसे इनके बारेमें बहुत कुछ जाना जा सकता है।

मुसलमानी आक्रमण तीरफलककी भाँति उत्तर भारतमें तेजीसे घुस गया था। इस अप्रत्याशित घटनासे दसवीं शताब्दीका धार्मिक और सांस्कृ-

तिक वातावरण एकदम विक्षुब्ध हो गया। यद्यपि इन दिनों ब्राह्मण धर्मका प्राधान्य पूर्ण रूपसे स्थापित हो चुका था तथापि अनेक वेद और ब्राह्मण-विरोधी साधनाएँ उन दिनों वर्तमान थीं। नाथों और निरञ्जनियोंका मत उन दिनों काफी प्रबल था। इस तीरफलकके चारों ओर ये साधनाएँ छितरा गयीं, कुछ समयके लिए ये एकदम विच्छिन्न हो गयी और नाना स्थानोंमें अपने गिर्द-गिर्दके वातावरणके अनुकूल होकर प्रकट हुईं। राजपूतानेमें उन्होंने वैष्णव रूप धारण कर लिया, पञ्जाबमें सिख धर्मका आश्रय लिया, बङ्गालमें धर्म-पूजा या निरञ्जन-ठाकुरकी पूजाके रूपमें आत्म-प्रकाश किया, उड़ीसामें पञ्चसखाओंकी साधनामें अपनेको छिपा लिया और दक्षिणी बिहार तथा मध्यप्रदेश और छोटा-नागपुरमें कबीरपन्थियोंके झण्डेके नीचे आत्म रक्षा की। इस ऐतिहासिक विकासको संस्कृत पोथियोंके सहारे नहीं जाना जा सकता। इसके समझनेका एक मात्र उत्तम मार्ग है वर्तमान देशी भाषाओंके प्राचीनतर साहित्यका अध्ययन। इस बातको न जाननेके कारण कभी कभी बड़े बड़े पण्डितोंको चक्करमें पड़ना पड़ा है। धर्मपूजाको शुरू-शुरूमें बौद्धधर्मका अवशेष समझा गया था। सबसे पहले महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्रीने 'जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी'में एक लेख लिखकर इस बातकी ओर विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट किया था। सन् १९१७ ई० में उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'डिस्कवरी आफ लिविंग बुद्धिज्म' प्रकाशित हुई। तबसे इस विषयकी खूब चर्चा होती रही है। धीरे-धीरे यह विश्वास किया जाने लगा है कि धर्मपूजा-विधान वस्तुतः बौद्धधर्मका अवशेष न भी रहा हो, उससे प्रभावित भले ही हो। सन् १९११ ई० में श्री नगेन्द्रनाथ वसुने 'मयूरभञ्ज आरकोलाजिकल सर्वे'की रिपोर्टमें यह प्रमाणित करनेका प्रयत्न किया कि उड़ीसाके पञ्चसखाओंके साहित्यमें बौद्धधर्म प्रच्छन्न रूपसे जीवित है। बिहारमें बौद्धधर्म चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दीमें जीवित था और उसका विलयन कबीरपन्थमें हो गया था, यह बात भी अन्यत्र दिखायी है। वस्तुतः केवल एक प्रान्तके साहित्यिक अध्ययनसे इस इतिहासके सिर्फ एक ही अध्यायका पता चलेगा।

सम्पूर्ण चित्रके लिए अन्यान्य देशी भाषाओंके साहित्यकी जानकारी आवश्यक है। दसवीं शताब्दीके आसपासमे योगमत बहुत प्रबल हो गया था। उन दिनोंके जैन, बौद्ध, शाक्त, शैव आदि विभिन्न सम्प्रदायके साधकोंकी भाषामे एक ही प्रकारके विचार घूम फिर कर आ जाते है। बाह्याचारका विरोध करना, चित्तशुद्धिपर जोर देना, शरीरको ही समस्त साधनाओंका आधार समझना और समरस भाव प्राप्त करके स्वसंवेदन आनन्दके उपभोगको ही चरम लक्ष्य बताना उस युगके समस्त वेदबाह्य साधनाओंकी विशेषता है। कभी-कभी तो 'जैन,' 'बौद्ध' आदि विशेषण पहिलेसे ही न मालूम हो तो रचना देखकर यह बताना कठिन हो जाता है कि रचयिता किस सम्प्रदायका है। उदाहरणार्थ, जब जैन साधक जोइन्दु कहते है कि देवता न तो देवालयमे है, न शिलामे है, न चन्दन प्रभृति लेप्य पदार्थोंमे है, वह अक्षय-निरञ्जन ज्ञानघन शिव तो समचित्तमें (समरसीभूत चित्तमें) वर्तमान हैं

> देउ ण देवले ण वि सिलए
> ण वि लिप्पइ ण वि चित्ति।
> अखउ णिरञ्जणु णाणमउ,
> सिउ संठिउ समचित्ति॥

तो उनकी यह भाषा वस्तुतः उस युगके अन्यान्य साधकोंकी भाषासे बहुत भिन्न नहीं है। यह शून्य, सहज, निरञ्जन आदि शब्द बादमे कबीर, नानक, दादू आदि सन्तोंकी भाषामे भी परम उपास्यके लिए प्रयुक्त होते रहे हैं। दादूने 'ब्रह्म सुन्नि तहँ ब्रह्म है, निरञ्जन निराकार' कहकर अपने परम उपास्यको स्मरण किया है। कबीरने 'एक निरञ्जन सो मन लागा' और 'उलटे पवन चक्र षट्वेधा सुन्नि सुरति लै लागी' कहकर शून्यको बहुमान दिया है और नानकने 'सुन्नै सुन्न कहै सब कोय सुन्नरूप बैठा प्रभु सोय' कहकर प्रभु को सुन्न-रूप कहा है। स्पष्ट है कि केवल शून्य शब्दका या निरञ्जन या निरालम्ब शब्दका व्यवहार देखकर ही किसी मतको प्रच्छन्न बौद्धमत नहीं कहा जा सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'शून्य' शब्द कभी

बौद्धसाधनामे बहुत सम्मानित था, परन्तु परवर्ती साधकोंकी पुस्तकोसे इस बातमें भी सदेह नही रह जाता कि ये शब्द अर्थ बदलकर साधनाकी अन्य धाराओमे भी अबाध गतिसे बहते आये है। यदि शून्य शब्दको देखकर किसी साधनाको प्रच्छन्न बौद्ध कह दिया जाय तो शून्यको ध्यान करते "देव सुण्णउँ पउ झायताहँ बलि बलि जोइअ जॉह" कहकर अत्यधिक उल्लसित होनेवाले जोइन्दुको भी प्रच्छन्न बौद्ध कहा जा सकता है।

पर ऐसा कहना ठीक नही है। लेकिन कुछ बातें सचमुच ही इसी प्रकारकी कही गयी है। उड़ीसाके पञ्चसखा भक्तोंको प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया है।

निरञ्जनके कुछ रूपोकी बानगी देखिये

१. सोलहवी शतीमे उड़ीसामे छः बहुत बड़े वैष्णव कवि हुए हैं। उनमे पॉच अर्थात् (१) अच्युतानन्ददास, (२) बलरामदास, (३) जगन्नाथदास, (४) अनन्तदास, (५) यशोवन्तदास समसामयिक थे। इन्हे उड़ीसामे 'पञ्चसखा' कहा जाता है। छठे चैतन्यदास इनके ईषत्परवर्ती है। इनका आविर्भाव राजा प्रतापरुद्रके राज्य-कालमे हुआ था। कहते है, प्रतापरुद्रके विषयमे तिब्बती ऐतिहासिक लामा तारानाथने लिखा है कि इस राजाने उडीसामे बौद्धोका दमन किया था। अब, श्री नगेन्द्रनाथ वसु महाशयने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया था कि पचसखा वस्तुतः बौद्धभक्त थे, राजभयके कारण ही उन्होने वैष्णव रूप धारण किया था। इस बातकी पुष्टिके लिए वसु महाशयने इन कवियोकी ऐसी बहुतसी कविताएँ उद्धृत की है जिनमे इन्होने श्री कृष्णको शून्यरूप और निरञ्जन कहकर स्मरण किया है। उदाहरणार्थ बलरामदासने विराट् गीतामे श्री कृष्णको बार-बार शून्य-रूप कहा है

तोहर रूप रेख नाहीं। शून्य पुरुष शून्य देही।
बोइले शून्य तोर देही। आवर नाम घिव कही।
तोर शून्य रूप शून्य देह
किना दैत्यारि नाम-व्यूह

अपनी 'गणेशविभूति टीका' नामक पुस्तकमें भी बलरामदासने शून्य-रूपमें स्थित ज्योतिःस्वरूप भगवान्‌का ध्यान इस प्रकार किया है :

अनाकार रूप शून्य-शून्य मध्ये निरञ्जनः।
निराकार मध्ये ज्योतिः सज्ज्योतिर्भगवान् स्वयं॥

इसी प्रकार चैतन्यदासने उस पुरुषको अपने विष्णुगर्भ नामक ग्रन्थमें "शून्य रे थाइ से शून्ये करइ विहार" कहकर शून्यमें स्थित शून्यरूप ही कहा है।

महादेवदास नामक उडिया वैष्णव कविने धर्मगीतामें बताया है कि किस प्रकार महाशून्यने सृष्टि करनेकी इच्छासे निरञ्जन, निर्गुण, गुण और स्थूल रूपमें अपने पुत्रोंको पैदा किया था, पर वे सभी जब सृष्टि कार्यमें असमर्थ हो गये तो अन्तमें उस महाशून्य महाप्रभुने अपनेको धर्मरूपमें प्रकट किया। इसी धर्मकी सहायतासे महामायाने सृष्टि उत्पन्न की।

यहाँ विस्तारभयसे मैं कबीरपन्थी, निरञ्जन या धर्मरायकी कहानी नहीं कह रहा हूँ। परन्तु इतना स्मरण करा देनेकी आवश्यकता है कि कबीर-पन्थी पुस्तकोंमें निरञ्जनकी प्राप्तिके लिए 'शून्य'के ध्यानका विधान है। ऐसा जान पडता है कि उडीसाके उत्तरी भाग तथा छोटा नागपुरके जङ्गली इलाकोको घेरकर वीरभूमिसे रीवाँतकके भू-भागमें धर्मदेवता या निरञ्जनकी पूजा प्रचलित थी। ऐसा कहना ठीक नहीं लगता कि यह बौद्धधर्मका प्रच्छन्न रूप था। यहाँ स्पष्ट रूपसे समझ लेना चाहिये कि बौद्धधर्मके किसी पारिभाषिक शब्दका परिवर्तित अर्थमें व्यवहार होनेको हम बौद्धधर्मका अवशेष नहीं कह सकते। केवल अधिकसे अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि इन शब्दोका बौद्ध साधनासे सुदूर सम्बन्ध था। इस बातको प्रच्छन्न बौद्धधर्म तो बहुत सोच-विचारकर ही कहना चाहिये। २. विहारके मानभूम, बंगालके वीरभूम और बाँकुडा आदि जिलोंमें एक प्रकारके 'धर्म' सम्प्रदायका पता हाल ही में लगा है। यह धर्ममत अब भी जी रहा है।

धर्म-पूजा विधानमें निरञ्जनका ध्यान इस प्रकार दिया हुआ है

आ यस्यान्तं नादिमध्यं न च करचरणं नास्तिकायो निनादम्
नाकारं नादिरूपं न च भयमरणं नास्ति जन्मैव यस्य ।
योगीन्द्रध्यानगम्यं सकलदलगतं सर्वसंकल्पहीनम्
तत्रैकोऽपि निरञ्जनोऽमरः पातु मां शून्यमूर्तिः ॥

रमाई पण्डितके शून्यपुराणमें धर्मको शून्यरूप, निराकार और निरञ्जन कहकर ध्यान किया गया है

शून्यरूपं निराकारं सहस्रविघ्नविनाशनम् ।
सर्वपरः परदेवः तस्मात्त्वं वरदो भव ॥

निरञ्जनाय नमः ॥

धर्माष्टक नामक एक निरञ्जनका स्तोत्र पाया गया है जिसकी संस्कृत तो बहुत भ्रष्ट है पर उससे निरञ्जनके स्वरूपपर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

इधर यह भी दिखानेका प्रयत्न किया गया है कि 'धर्म' शब्द वस्तुतः आस्ट्रो-एशियाटिक श्रेणीकी जातियोंकी भाषाके एक शब्दका संस्कृतीकृत रूप है। यह कूर्म या कछुएका वाचक है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याने बताया है कि दुल या दुली शब्द, जो अशोकके शिलालेखोंमें भी मिलता है और उत्तरकालीन संस्कृत भाषामें भी गृहीत हुआ है और जो कछुएका वाचक है, आस्ट्रो-एशियाटिक श्रेणीका शब्द है। सन्थाल आदि जातियो-की भाषामें यह नाना रूपोंमें प्रचलित है। इन भाषाओंमें 'ओम' स्वार्थक प्रत्यय हुआ करता है और दुरोम, दुलोम, दरोमका भी अर्थ कछुआ होता है। इसी शब्दका संस्कृतरूप धर्म है जो संस्कृतके इसी अर्थके साथ गढ़ बढ़ा दिया गया है। इस प्रकार धर्मपूजामें कछुएका मुख्य स्थान सम्भवतः सन्थाल, मुण्डा आदि जातियोंके विश्वासका रूप है। कबीरपन्थमें अब भी 'कूर्म' जीका सम्मान बना हुआ है, यद्यपि उनके दूसरे नाम 'धर्म'की इज्जत बहुत घट गयी है। यहाँ यह कह रखना उचित है कि मुण्डा लोगों-में रमाई पण्डितका स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। रमाई पण्डित शून्यपुराणके रचयिता माने जाते हैं।

निरञ्जनमतका तीसरा रूप कबीरपन्थी पुस्तकोंमे मिलता है। यहाँ यह बतानेका प्रयत्न है कि निरञ्जन ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव और उनकी शक्तिका जनक है, परन्तु है वह अत्यन्त धूर्त और मक्कार। उसीने सृष्टिका जाल फैलाया है और भोले-भाले जीव उसकी मायामे फँस जाते है। वेदमार्गी, वैष्णव, शैव शाक्त आदि उसी चक्करमे पडे है। मैंने इस कथाका विस्तृत कबीरपन्थी रूप अन्यत्र दिया है। कबीरदासको बार-बार इस धराधामपर भक्तोको इस धोखेबाज निरञ्जनके जालसे बचाने लिए अवतीर्ण होना पडता है। ऐसा जान पड़ता है कि पूर्वी प्रदेशोमे जिन जातियोंमे कबीरपन्थको प्रचार करना पडा था उनमे निरञ्जन मतका प्रचार था। कबीरपन्थी आचार्योंने उनकी सारी परम्परा को इस प्रकार मोड़ दिया है कि निरञ्जन अपने महत्त्वपूर्ण जगन्नियन्तृ पदपर बैठा हुआ भी शैतान बन गया है। मैंने अन्यत्र दिखाया है कि इन साम्प्रदायिक पुस्तकोंसे ही इस मूल निरञ्जनमतका पता चलता है।

वस्तुतः निरञ्जनमतके ये तीनों ही रूप उड़ीसावाला, बङ्गालवाला, और कबीर सम्प्रदायवाला —ओरावो और गोड़ोंमे प्रचलित सृष्टि-प्रक्रियासे बहुत मिलते-जुलते है। ओरावोमे तो रमाई पण्डित भी सम्मानित है। ऐसा जान पड़ता है कि मुस्लिम आक्रमणके बाद निरञ्जनमतका जो रूप छोटा नागपुरमें रह गया उसने वहाँकी आदिम जातियोके सम्पर्कमें एक रूप ग्रहण किया, उडीसाके भक्तोंने दूसरा रूप ग्रहण किया और बङ्गालमें तीसरा रूप ग्रहण किया और कबीर सम्प्रदायमे चौथा रूप ग्रहण किया। पूर्वी रूपके इन चार ही रूपान्तरोका मुझे पता है। अनुसन्धान करनेपर और रूपोका पता भी लग सकता है। इस सम्बन्धकी पौराणिक कथाएँ सम्भवतः आदिम जातियोकी सृष्टि प्रक्रिया विषयक कथाओके साहचर्यसे बनी हैं, क्योंकि पश्चिममे निरञ्जनमतके जो रूप प्राप्त है उनमें इस प्रकारकी कथाएँ नहीं है। राजपूतानेमे निरञ्जनमत वैष्णवमतके रूपमें जीवित है। सिक्खमतमे निरञ्जनमतका रूप पाया जाता है। स्वयं गुरु नानकने अकल निरञ्जनको इस अद्भुत कला-विद्याका प्रवर्तक कहकर

स्मरण किया है, जो शून्यसे रङ्ग बनाकर इस अद्भुत पृथ्वी और आकाश-को बनाकर इसमें मगन हो रहा है।

**अगम निगमकी कथाको, मोहि सुनावै आय।**
**ज्यों कौआ प्रकाश सुनते नाना रङ्ग बनाय॥**
**अकल निरञ्जन भला करि कीना धरनि गगन।**
**नानक रङ्ग बनाई कै, रहिया होय मगन॥**

किस प्रकार यह शून्य और निरञ्जनकी साधना उत्तर भारतके निर्गुण सन्तोंको आश्रय करके प्रकट हुई यह कहानी बड़ी मनोरञ्जक है। मेरा अनुमान है कि महाराष्ट्रमें भी इस मतने वैष्णव रूप धारण किया है। सन्त ज्ञानेश्वरका सम्बन्ध सीधे नाथ गुरुओंसे स्थापित किया जाता है, परन्तु मैं इस विषयमें विशेष नहीं जानता। पण्डित-मण्डलीका ध्यान इस तथ्यकी ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि यदि देशी भाषाओंके साहित्यका अध्ययन उपेक्षित रहेगा तो यह सम्भव नहीं है कि इस महान् धार्मिक उथल-पुथलका सामान्य आभास भी अन्य किसी साधनसे प्राप्त हो सके। इस धार्मिक आन्दोलनने समूचे उत्तर भारतके लोकचित्तको शताब्दियोतक प्रभावित किया है और आज भी बहुत दूरतक कर रहा है।

यह एक उदाहरण है। पण्डित-मण्डलीको सोचनेकी उत्तेजना देने-वाली अनेक सामग्रियोंका पता इस क्षेत्रसे मिल सकता है। किस प्रकार बाप्पा रावलका रामादत्त पाशुपतमत रावल अर्थात् लाकुल पाशुपतमत 'रावल' और 'गल' नामक दो सम्प्रदायोंमें विभक्त होकर बादमें रावल-गल्ला हो गया और धीरे-धीरे मुसलमान होनेको बाध्य हुआ, किस प्रकार कृष्णाचार्यके कापालिक मतावलम्बी कहीं मुसलमान हो गये और कहीं हिन्दुओंकी अलग जातिके रूपमें जी रहे हैं, किस प्रकार विमलादेवीके शक्ति सम्प्रदायको गोरखनाथी झण्डेके नीचे आत्मरक्षा करनी पड़ी और किस प्रकार राजा रसालू और पूरन भगतका सम्प्रदाय बारहपन्थी योगि-योंमें अन्तर्मुक्त हुआ ये और ऐसी ही अनेक बातें केवल धार्मिक

साधनाके साहित्यमें महत्त्वपूर्ण सूचना ही नहीं देती, वे हमारी सम्पूर्ण जनताके भाग्यविपर्ययकी दुःखपूर्ण कहानीको समझनेमें मदद पहुँचाती है। यह साहित्य उस बीजकी कहानी आपको बतायेगा जो हजार वर्ष बाद इस महादेशको दो परस्पर विरोधी टुकड़ोंमें बाँटनेवाले विषवृक्षके रूपमें पनपा है। हमारी देश-भाषाओंका आदिकालका साहित्य एक दूसरेसे बुरी तरह उलझा हुआ है और एक दूसरेका पूरक है। समय आ गया है कि इसके सम्पूर्ण रूपको स्पष्ट भावसे समझनेका प्रयत्न किया जाय। कोई ऐसी व्यापक दृष्टिवाली विद्वत्सभा स्थापित होनी चाहिये जो इस कालकी सम्पूर्ण साहित्यिक सामग्री लिखित और अलिखितका सङ्कलन और अध्ययन करे।

भारतवर्षका सुप्त मध्ययुग, जिसके पेटसे यह हमारा आधुनिक युग उत्पन्न हुआ है, बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस देशकी जनताको, उसके विश्वासोंको, धर्मपरिवर्तनके कारणोंको समझनेकी सामग्री, इस कालके साहित्यमें प्रचुर मात्रामें उपलब्ध होगी। इसे समझे बिना हम भारतवर्षको ही ठीक-ठीक नहीं समझ सकेंगे।